उद्देश्य

संरक्षण तथा प्रचार।

विवेचन।

अनुसंधान।

न और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख स्वीकार्य होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति स्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशनसंबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है, परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक कृष्णानंद
सहायक संपादक पुरुषोत्तम

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[नवीन संस्करण]

वर्ष ५४] संवत् २००६ [अंक १

गुप्त सम्राट् और विष्णुसहस्रनाम

[श्री बहादुरचंद छाबड़ा, एम० ए०, पी-एच० डी०]

पाठकों को आश्चर्य होगा कि विष्णुसहस्रनाम तो एक स्तोत्र है, गुप्त सम्राटों से इसका क्या संबंध हो सकता है ! इसका उत्तर कदाचित् आगे की पंक्तियों से मिल सके। संभव है यह सब मेरी कोरी कल्पना ही हो, तो भी मुझे यह तथ्य इतना सार्थक और सारवत् जान पड़ता है कि मैं इसे एक बार विद्वानों के सामने लाना चाहता हूँ।

यह बात सुविदित है कि कई गुप्त अभिलेखों में जहाँ समुद्रगुप्त को *पृथिव्याम् अप्रतिरथ* कहा है वहाँ उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय को *स्वयं चाप्रतिरथ* कहा गया है। आपाततः इसका यही अर्थ है कि समुद्रगुप्त संसार में अप्रतिरथ था और उसका पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय भी वैसा ही अप्रतिरथ था। दूसरे शब्दों में, *स्वयं च* का और कोई अर्थ नहीं, यह केवल *अपि* का पर्यायवाची है। फ्लीट आदि विद्वानों ने इसका यही अर्थ लिया है। फलतः *स्वयं चाप्रतिरथः* की व्याख्या इसी अर्थ के अनुरूप होती चली आती है। इधर गुप्तकालिक अभिलेखों का सूक्ष्म अध्ययन करते समय मुझे एक बार कुछ ऐसी शंका हुई कि प्रकृत में *स्वयं* का तात्पर्य कुछ और होना चाहिए। जितना ही मैं इसपर सोचता गया उतना ही मेरा संदेह बढ़ता गया। अंत में एक दिन विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते हुए मैं सहसा इस श्लोकार्ध पर रुक गया—

अनिरुद्धोऽप्रतिरथःप्रद्युम्नोऽमितविक्रमः। (श्लोक ६८)

मेरे हृदय में प्रकाश-सा हुआ, और मेरा संशय एकदम छिन्न हो गया। *अप्रतिरथ* भगवान् विष्णु के हजार नामों में से एक है और *स्वयं चाप्रतिरथः* में यही अभिप्रेत है। स्पष्ट है कि *स्वयं* यहाँ *साक्षात्* का पर्यायवाची है, *अपि* या *तथा* का नहीं। *स्वयं* का *साक्षात्* अर्थ में प्रयोग साहित्य और अभिलेखों में प्रसिद्ध भी है, जैसे वेणीसंहार नाटक में —

क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्। (३।३२ ,)

और सिंत्रा प्रशस्ति में—

देव. स्वय बालमृगाङ्कमौलिः। (एपिग्राफिया इंडिका, १।२८१, पद्य १४)

किंच, प्रकृत में *स्वयं* का अर्थ *साक्षात्* करने पर *अप्रतिरथ* विशेषण नहीं रहता, अपितु संज्ञापद बन जाता है। और हमें यह अभीष्ट भी है। फलितार्थ यह हुआ कि चंद्रगुप्त द्वितीय के वर्णन में जो *स्वयं चाप्रतिरथः* वाक्यांश है उसका तात्पर्य यह है कि चंद्रगुप्त द्वितीय भगवान् विष्णु का अवतार माना जाता था। वह *स्वयं अप्रतिरथ* था, *साक्षात् विष्णु* था।

गुप्त वंश से संबंध रखनेवाले जो अभिलेख आज तक मिले हैं उनसे पता चलता है कि *अप्रतिरथ* का प्रयोग केवल दो नरेशों के संबंध में हुआ है—एक तो समुद्रगुप्त और दूसरे उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय के संबंध में। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय को तो हमने *स्वयं* शब्द के बल पर *अप्रतिरथ* अर्थात् *विष्णु* का अवतार मान लिया है, समुद्रगुप्त को भी वैसा क्यों न मान लें? माना कि उसके पक्ष में *स्वयं* शब्द का अथवा तत्पर्यायवाची किसी *साक्षात्* आदि का प्रयोग नहीं हुआ, केवल *पृथिव्याम्* का ही हुआ है, किंतु *अप्रतिरथ* तो उसे भी कहा ही गया है। ठीक है। मेरा तो अब यही विश्वास है कि समुद्रगुप्त को पहिले *अप्रतिरथ* का अवतार माना गया था, और उसके पुत्र को उसके बाद। *स्वय चाप्रतिरथः* की यहाँ दी हुई व्याख्या को देखते हुए *पृथिव्यामप्रतिरथः* की व्याख्या भी तदनुरूप ही होनी चाहिए—'भूमिपर विचरने वाला स्वयं अप्रतिरथ', न कि 'संसार भर में निःसपत्न'। समुद्रगुप्त को भी, चंद्रगुप्त द्वितीय के समान, *अप्रतिरथ* रूप में विष्णु का अवतार मानने के संबंध में मैंने आगे चलकर और भी युक्तियाँ उपस्थित की हैं। यहाँ मैं हरिषेण कृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के उस वाक्य का भी उल्लेख कर देता हूँ जिसमें कवि ने समुद्रगुप्त को देव मानकर ही उसका वर्णन किया है—*लोकसमयक्रियानु-*

विधानमात्रमानुषस्य लोकधाम्नो देवस्य[1]। इसमें का *लोकधाम्नो देवस्य*, *पृथिव्यामप्रतिरथस्य* की छाया-सा जान पड़ता है। ये दोनों प्रयोग भूदेव की कोटि के हैं। भूदेव या *भूमिदेव* का शब्दार्थ तो है 'भूमि पर का देव'; पर है ऐसे शब्द 'ब्राह्मण' के पर्यायवाची। वास्तविक देव तो रहते हैं ऊपर स्वर्ग में, और ब्राह्मण भी हैं देव ही, अंतर यही है कि वे स्वर्ग में नहीं, अपितु यहीं भूमि पर विचरते हैं। समुद्रगुप्त के विषय में जो *लोकधाम्नो देवस्य* और *पृथिव्यामप्रतिरथस्य* दो भिन्न प्रयोग हुए हैं वे पर्यायांतर से समानार्थक ही कहे जा सकते हैं। आगे चल कर हम बताएँगे कि देव शब्द भी स्वतंत्र रूप से विष्णु के हजार नामों में से एक है। चंद्रगुप्त द्वितीय का दूसरा नाम जो देवगुप्त या देवश्री है उसमें भी उसी विष्णुवाची देव शब्द की झलक है। हरिषेण-कृत प्रशस्ति में और भी कई ऐसे अंश हैं जो समुद्रगुप्त को विष्णु का अवतार मानने के मत का समर्थन करते हैं। उनका उल्लेख भी हम आगे चलकर करेंगे।

ध्यान रहे कि प्रशस्तिकार जब समुद्रगुप्त को अथवा चंद्रगुप्त द्वितीय को *अप्रतिरथ* कहकर विष्णु का अवतार घोषित करता है तो उसका लक्ष्य विष्णु का वही विशिष्ट रूप होता है जो उक्त संज्ञापद से ध्वनित होता है। अथवा यों कहिए कि *अप्रतिरथ* शब्द के प्रकृत में दो अर्थ हैं, एक तो 'विष्णु का नाम' और दूसरा उसका यौगिक अर्थ—'वह जिसके आगे कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं ठहर सकता'। प्रशस्तिकार को अपने प्रतिपाद्य विषय के लिये दोनों अर्थ अभीष्ट है।

गुप्त वंश के इतिहास से परिचित विद्वानों को समुद्रगुप्त एवं चंद्रगुप्त द्वितीय को कवि-कल्पित विष्णु का अवतार मानने में कोई आपत्ति न होगी। गुप्तवंशी सम्राट् विष्णु के परम भक्त थे, यह विख्यात ही है। किंच, चंद्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम का जो वर्णन उसके सिंहमर्दन प्रकार वाले सिक्कों पर मिलता है उससे उसका विष्णु का अवतार होना सिद्ध ही है—

१—फ्लीट द्वारा संपादित गुप्त-अभिलेख-संग्रह, पृ० ८, पंक्ति २८। उक्त वाक्य की ओर ध्यान डा० अनंत सदाशिव जी अल्तेकर ने न्यूमिज़्मैटिक सोसायटी आव इंडिया की पत्रिका (जिल्द ६, पृ० १३७-४२) में प्रकाशित मेरे प्रस्तुत विषय के अंग्रेजी के लेख में टिप्पणी के रूप में आकर्षित किया है। इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

साक्षादिव नरसिंहो सिंहमहेन्द्रो जयत्यनिशम्[३] ।

इस मुद्राभिलेख में कुमारगुप्त प्रथम को स्पष्ट ही *साक्षात् नरसिंह* कहा गया है[३]। यहाँ कवि का लक्ष्य प्रधानतया विष्णु की *नारसिंह वपुष्*[४] मूर्ति पर है, और यह मुद्रा पर अंकित दृश्य में नर और सिंह के होने से समंजस प्रतीत होता है। कुमारगुप्त प्रथम का उपनाम *महेन्द्र* है, मुद्रा पर के सिंह के साहचर्य से इसे भी अभिलेख में *सिंह महेन्द्र* का रूप दिया गया है। कवि की प्रतिभा सर्वत्र नाम और रूप पर क्रीडा-सी करती दिखाई देती है।

यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि उक्त सभी उदाहरणों में उपासक का जो उपास्य देव से तादात्म्य दिखाया गया है वह केवल कवि-कल्पित अथवा आलंकारिक है, तात्त्विक अथवा ऐतिहासिक नहीं। इसका प्रयोजन भक्त की उसके इष्टदेव के प्रति उत्कट भक्ति दिखाना ही है।

हमने चर्चा चलाई थी चंद्रगुप्त द्वितीय की। इतिहास में यह *परमभागवत* प्रसिद्ध है। अर्थात् यह विष्णु का परम भक्त था। हाल ही में भरतपुर राज्य में बयाना से जो सुवर्ण मुद्राओं की उपनिधि मिली है उसमें चंद्रगुप्त द्वितीय की एक अपूर्व मुद्रा प्राप्त हुई है। डा० अल्तेकर ने इस प्रकार की मुद्रा को *चक्रविक्रम* नाम दिया है[५]। इस नाम की मीमांसा हम आगे चलकर करेंगे। इस मुद्रा में सामने की ओर जो दृश्य अंकित है वह अत्यद्भुत है। डा० अल्तेकर के शब्दों में इसमें "चंद्रगुप्त द्वितीय विष्णु

२—एलन की पुस्तक गुप्त कॉयन्स पृ० ७२–८, फलक १४, चित्र १–५।

३—पद्य में *साक्षात्* के आगे जो *इव* रखा गया है उससे विवक्षित रूपकालंकार में शिथिलता नहीं आती, प्रत्युत उसमें जो उत्प्रेक्षा का अंश है उसकी स्पष्ट प्रतीति होती है। काव्य में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहां *साक्षात्*, इव और स्वयं तीनों का वाक्य में प्रयोग हुआ है और वे तीनों एक ही भाव की पुष्टि करते हैं। इसका एक उत्तम उदाहरण आदि कवि वाल्मीकि-कृत रामायण में मिलता है जहाँ (अयोध्याकांड, अध्याय २, श्लोक ४३) राम के वर्णन में कहा है—

सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद्विष्णुरिव स्वयम्।

४—विष्णुसहस्रनाम, श्लोक ३—*नारसिंहवपुःश्रीमान् केशवः पुरुषोत्तमः*।

५—एन्-एस्-आइ पत्रिका, जिल्द ८, पृ० १८२।

से एक दिव्य उपहार प्राप्त कर रहा है"[६]। उक्त सभी प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय विष्णु का अत्यंत भक्त और अत्यंत प्रसादपात्र था। इसलिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उसके आश्रित कवि और कर्मचारी उसके अभिलेखों में उसे विष्णु की पदवी देते थे। इससे यह भी इंगित होता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय को जो सिद्धि और उन्नति, विजय और अभ्युदय आदि संपत्तियाँ प्राप्त थीं उन्हें वह विष्णु की कृपा ही समझता था। उदात्त कार्यों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा उसे अपने इष्टदेव विष्णु से ही मिलती थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय का दिव्य अथवा वैष्णव प्रभाव सर्वत्र विख्यात हो गया था। इसकी प्रतिध्वनि हमें ग्वालियर राज्य में मंदसोर से प्राप्त एक बौद्ध शिलालेख में भी मिलती है। इस लेख का काल मालव संवत् ५२४ है, जब चंद्रगुप्त द्वितीय का देहांत हुए करीब ५० साल हो चुके थे। अभिलेख में चंद्रगुप्त द्वितीय यों उपवर्णित है—*गोविन्दवत् ख्यातगुणप्रभावः*[७]।

जैसा कि हम ऊपर कह आए है, चंद्रगुप्त द्वितीय का एक दूसरा नाम देवश्री था। यह नाम उसकी कई सुवर्ण मुद्राओं पर पाया जाता है—*देवश्रीमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तः*[८]। नाम कुछ विचित्र है सही, परंतु ऊपर की चर्चा से इसका रहस्य समझना भी सुगम हो गया है। इसका अर्थ अब हम 'विष्णु के ऐश्वर्यवाला' करें तो अनुचित न होगा। हम कह चुके हैं कि देव भी विष्णु का एक स्वतंत्र नाम है जो विष्णुसहस्रनाम में इस प्रकार आता है—

उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः। (*श्लोक ४१*)

श्लोकगत *श्री* का स्थान भी ध्यान देने योग्य है। उसका *देव* के समनंतर ही आना मानो *देवश्री* नामकरण का हेतु है। *देवगुप्त* और *देवराज* नाम भी जो चंद्र-

६—उक्त सुवर्ण मुद्रा का पूरा-पूरा विवरण तो तभी मिलेगा जब कि बयाना उपनिधि का विस्तृत सूचीपत्र छपेगा। इलस्ट्रेटेड वीकली ऑव इंडिया पत्रिका के फर्वरी २२, १९४८ अंक में भी डा० अल्तेकर ने बयाना उपनिधि के कुछ मुख्य-मुख्य सिक्कों का वर्णन किया है। वहाँ उन्होंने चक्रविक्रम प्रकार की मुद्रा का एक परिवर्द्धित चित्र भी दिया है। चित्र में विष्णु और चंद्रगुप्त द्वितीय आमने-सामने खड़े हैं। भगवान् कुछ दे रहा है और भक्त ले रहा है।

७—अभिलेख एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २७, भाग १ में संपादित हो चुका है।

८—गुप्त कॉयन्स, पृ० २४-३४।

गुप्त द्वितीय के ही नामांतर हैं, इसी व्याख्या से स्पष्ट हो जाते हैं। इनमें के देव का अर्थ *विष्णु* ही लें तो अधिक संगत होगा।

चंद्रगुप्त द्वितीय की महिमा का जब हम ऐसा गुणगान सुनते हैं तो हमें विश्वास होता है कि वह अवश्य एक उदात्त चरित्र का पुरुष था। ऐसी अवस्था में उसपर जो ऐसे दोष लगाए जाते हैं कि उसने अपने भाई का वध किया, उसकी स्त्री से विवाह कर लिया और उसका राज्य दबा लिया, इत्यादि[१], उनपर हमारी अश्रद्धा होना स्वाभाविक ही है। जिन प्रमाणों के आधार पर चंद्रगुप्त द्वितीय पर घोर कलंक लगाए जाते हैं उनकी फिर एक बार छानबीन होनी चाहिए। चंद्रगुप्त द्वितीय जैसे सच्चरित्र व्यक्ति द्वारा वैसे पापों का होना नितांत असंभाव्य है।

अस्तु, हम फिर विष्णुसहस्रनाम की ओर आते हैं। जब मेरा अप्रतिरथ-विषयक संशय निवृत्त हो गया तो मुझे यह सूझा कि इस स्तोत्र में गुप्त इतिहास संबंधी और भी सामग्री होनी चाहिए। आदि में हमने जो श्लोकार्ध उद्धृत किया है (*अनिरुद्धोऽप्रतिरथ : प्रद्युम्नोऽमितविक्रमः*) उसमे का *अमितविक्रम* पद कुछ परिचित सा जान पड़ा। इससे गुप्त सुवर्णमुद्राओं पर के अभिलेखों में आने वाले *अजितविक्रम* आदि पदों की स्मृति उद्बुद्ध हो उठी। इस दृष्टि से मैंने स्तोत्र को फिर कई बार पढ़ा और मुझे बहुत सी उपयोगी सामग्री मिली। विशेष कर कई गुप्त राजाओं के नामों और उपनामों के विषय में मुझे नाना शंका हुआ करती थी, उन सबका विष्णुसहस्रनाम से निराकरण हो गया। उनका कुछ ब्योरा दे देना यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

गुप्त—सबसे पहिले गुप्तवंशीय आदिराज गुप्त को ही लें। इस नाम पर बहुत कुछ ऊहापोह होता रहता है। कई इसे *गुप्त* ही कहते हैं तो कई इसे *श्रीगुप्त* सिद्ध करते हैं। *श्रीगुप्त* के पक्ष वालों की युक्ति यह है कि *गुप्त* पद पुरुषनाम का उत्तर पद ही हो सकता है, स्वतंत्र रूप से पुरुषनाम नहीं हो सकता। दूसरे पक्ष-वालों ने इधर उधर से एक दो उदाहरण ऐसे ढूँढ़ निकाले हैं जिनसे *गुप्त* पद स्वयं पूर्ण पुरुष नाम माना जा सकता है। है यही मत सही, परंतु इसकी पुष्टि में जैसा प्रमाण विष्णुसहस्रनाम से मिलता है वैसा कदाचित् और कहीं से भी न मिल सकेगा—

१—यहाँ रामगुप्त की कहानी की ओर संकेत है।

गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः। (श्लोक ५८)

गुप्त पूरा नाम है या अधूरा, इस तर्क के अतिरिक्त कई विद्वानों ने इससे और कई प्रकार के परिणाम निकाले हैं— गुप्तवंशी राजाओं की जाति क्या थी, समाज में उनका क्या स्थान था, उनका मूल क्या था, इत्यादि। 'दि कैंब्रिज शॉर्टर हिस्ट्री ऑफ् इंडिया" के रचयिताओं ने तो यहाँ तक कह डाला है कि चाहे जो भी हो, गुप्त नाम से किसी नीच जाति का बोध होता है। कैसा अंधेर है!

ऊपर उद्धृत श्लोकार्ध में हमने देखा है कि *गुप्त* स्वयं भगवान् विष्णु का एक नाम है। और इसका जो अर्थ होना चाहिए वह श्लोकगत *गुह्य, गभीर* और *गहन* नामों के साहचर्य से स्पष्ट ही है। इन चार नामों में ईश्वर की जिस गूढ़ रहस्य-मयी प्रकृति की ओर संकेत है उसका वर्णन उपनिषदों में इन शब्दों में मिलता है— *आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्* ।

अब यह सिद्ध है कि गुप्त वंश के वंशकर्त्ता का नाम गुप्त था। इससे जाति आदि के विषय में अनुमान लगाना अन्याय्य है। ऐसे अनुमान तो तभी उपयुक्त कहे जा सकते हैं जब गुप्त पद पुरुषनाम का उत्तर पद हो। और यतः उत्तरवर्ती गुप्तवंशीय राजाओं ने अपने नामों के पीछे उत्तर पद के रूप में अपने वंशकर्ता *गुप्त* का नाम जोड़ा है, अतः इस *गुप्त* शब्द को उस *गुप्त* शब्द से भिन्न समझना चाहिए जो वैश्य जाति का द्योतक माना जाता है और जिसका पर्याय *पालित* भी कभी कभी प्रयुक्त होता है। स्मृतियों से यह सिद्ध ही है कि ब्राह्मण अपने नामों के पीछे *शर्मा*, क्षत्रिय *वर्मा* और वैश्य *गुप्त, पालित* आदि शब्दों का प्रयोग किया करते थे, और कई अंशों में अब भी करते हैं। इस प्रकार विष्णुवाचक गुप्त शब्द और जातिव्यंजक गुप्त शब्द पृथक् पृथक् हैं। मेरे विचार में यह भिन्नता बड़े महत्त्व की है और गुप्तवंशी राजाओं की जाति आदि के विषय में विमर्श करते समय इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

हमने अभी कहा है कि उत्तरवर्ती गुप्तवंशीय राजाओं ने अपने नामों के पीछे उत्तर पद के रूप में अपने वशंकर्ता *गुप्त* का नाम जोड़ा है। यह प्रथा गुप्त के पौत्र चंद्रगुप्त प्रथम से चली हुई मानी जाती है। गुप्त के पुत्र घटोत्कच को सर्वत्र

१०—सन् १९१४, पृ० ८८।

घटोत्कच ही कहा गया है, उसे किसी अभिलेख में घटोत्कच गुप्त नहीं कहा गया"। किंच, घटोत्कच नाम भी दूसरे नामों की अपेक्षा कुछ विलक्षण-सा जान पड़ता है। यह बात अब सभी मानते हैं कि गुप्तवंशियों की जो वास्तविक समृद्धि हुई, वह चंद्र से आरंभ हुई थी जिसे हम चंद्रगुप्त प्रथम कहते हैं। जहाँ इसके पिता घटोत्कच और पितामह गुप्त को केवल महाराज की पदवी दी गई है वहाँ चंद्रगुप्त प्रथम को तथा उसके उत्तरवर्ती नरेशों को महाराजाधिराज का पद दिया गया है। दूसरे शब्दों में, पहिले जो साधारण सा राज्य था, चंद्रगुप्त प्रथम के समय से वह एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। तब उस बढ़ती हुई प्रभुशक्ति के अनुरूप सारे राज्यतंत्र में एक परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। कदाचित् इसी प्रक्रिया में यह भी उचित समझा गया कि सम्राट् का नाम भी प्रभावशाली एवं किसी विशेष नियम के अनुकूल हो। जान पड़ता है कि गुप्त घराने में शुरू से ही विष्णु की, कुल-देवता के रूप में, पूजा होती आई थी और गुप्त राज्य की जो दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति हुई उसका मूल कारण भगवान् विष्णु की कृपा ही समझी गई थी। इस विचार से गुप्त नाम को विशेष महत्ता दी गई और तब से सम्राटों के नाम गुप्तांत रखने का निश्चय किया गया। इससे दो कार्य सिद्ध हुए—एक तो इष्टदेव *गुप्त* अर्थात् विष्णु के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन हुआ, जिसकी कृपा से उनका अभ्युदय हुआ था; दूसरे अपने वंशज *गुप्त* का नाम उज्ज्वल हुआ और उसके प्रति सत्कार का प्रदर्शन, जिसने उस साम्राज्य का मानो बीजारोपण किया था जो चंद्रगुप्त प्रथम के समय में फलने फूलने लगा था। यह है मेरी समझ में घटोत्कच के नाम का अगुप्तांत रह जाने का कारण। गुप्त ने राज्य की नींव डाली और उसके पोते ने उसे चार चाँद लगा दिए। घटोत्कच बेचारा न तीन में न तेरह में। रही उसके नाम की विलक्षणता, उसपर विष्णुसहस्रनाम से अवश्य कुछ प्रकाश पड़ता है। *घटोत्कच* में दो शब्द हैं— घट और

११—श्री राखालदास बनर्जी ने अपनी पुस्तक एज ऑव दि इंपीरियल गुप्ताज में पृष्ठ २ पर इसे जो घटोत्कचगुप्त कहा है वह भ्रममूलक है। गुप्त के पुत्र घटोत्कच का नाम गुप्तांत नहीं था। हाँ, इसी वंश के पीछे के दो वंशजों का नाम घटोत्कचगुप्त अवश्य था परंतु वे सम्राट् या राजा नहीं थे। द्रष्ट० एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २१, पृष्ठ ११६।

उत्कच। इनमें का पहिला कुम्भ का पर्यायवाची है, और कुम्भ विष्णु का नाम भी है जो स्तोत्र में आता है—

अर्चिष्मान् अर्चितः कुम्भो विशुद्धात्मा विशोधनः। (श्लोक ६८)

समुद्र—समुद्रगुप्त का नाम वास्तव में *समुद्र* मात्र है और पुरुषनाम के रूप में समुद्र शब्द भी अप्रसिद्ध सा है। समुद्रगुप्त के नाम की व्याख्या में कई प्रकार की कल्पनाएँ की गई हैं।[१२] परंतु विष्णुसहस्रनाम से यह गुत्थी भी आसानी से सुलझ जाती है। *अपांनिधि* और *अम्भोनिधि* जो *समुद्र* के पर्याय हैं, विष्णु के ही नाम हैं (श्लोक ३५ और ५५)। इसी प्रकार चन्द्र, *कुमार*, स्कन्द प्रभृति को भी, जो गुप्त नरेशों के नाम हैं और जो आपाततः *चंद्रमा कार्त्तिकेय* आदि के वाचक हैं, प्रकृत में विष्णु के ही नाम समझना चाहिए। विष्णु के हजार नामों में *सोम, गुह, स्कन्द* आदि नामों का समावेश है ही (श्लोक ५४, ४१ और ३६), पुरु अथवा पुरू नाम[१३] भी विष्णु के पुरुसत्तम[१४] नाम पर रखा हुआ जान पड़ता है (श्लोक ५४)। नामकरण की यह विष्णुपरक प्रवृत्ति गुप्त महादेवियों अर्थात् पटरानियों के नामों में भी इसी प्रकार मिल सकती है। *कुमारदेवी* और *चन्द्रदेवी* नाम तो अब स्पष्ट ही हैं। *ध्रुवदेवी, अनन्तदेवी,* और *मित्रदेवी* में भी विष्णु के *ध्रुव, अनन्त* और *सूर्य* नामों की छाया प्रतीत होती है (श्लोक

१२—श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने *समुद्रगुप्त* को नाम न मानकर उपाधि बताया है और इसकी व्याख्या की है 'सागर से परिरक्षित' (देखिए उनकी हाल ही में प्रकाशित पुस्तक 'द गुप्ता एंपायर', मुंबई १९४७, पृष्ठ १७)। इस व्याख्या के अनुसार *गुप्त* पद *समुद्रगुप्त* का अभेद्य अंश है।

१३—*पुरुगुप्त* अथवा *पुरूगुप्त*। कई विद्वान् इसे भ्रम से *पुरगुप्त* समझते रहे हैं।

१४—अंग्रेजी के लेख में भी मैंने *पुरुसत्तम* ही लिखा था, परंतु छपा है वहाँ *पुरुषोत्तम*। जान पड़ता है यह परिवर्तन संपादक ने किया है। हो सकता है कि संपादक के पास स्तोत्र का जो संस्करण है उसमें वैसा ही पाठ हो। परंतु यथार्थ पाठ *पुरुसत्तम* ही है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित्पुरुसत्तमः।
विनयो जयः सत्यसन्धो दाशार्हः सात्वतां पतिः॥

पाठ *पुरुसत्तम* ही प्रामाणिक है, यह भी शंकराचार्य कृत व्याख्या तथा महाभारत के अन्यान्य संस्करणों से सिद्ध है।

६, ७० और ६४)। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि विष्णु के नामों में कई ऐसे हैं जो अधिकतर सूर्यवाची है—जैसे *आदित्य, अर्क, भानु, रवि, सविता, सूर्य*, इत्यादि। इनमें का *आदित्य*, गुप्त उपनामों में अति प्रसिद्ध है।

क्रम—उपनामों में चंद्रगुप्त द्वितीय का उपनाम *विक्रमादित्य* तो सब जानते ही हैं, परंतु स्कंदगुप्त और कुमारगुप्त द्वितीय का जो *क्रमादित्य* उपनाम है वह इतना प्रसिद्ध नहीं। किंच *विक्रम, पराक्रम* आदि शब्द तो सुप्रचलित हैं, परंतु केवल *क्रम* शब्द का प्रयोग कम ही देखने में आता है। यहाँ भी विष्णुसहस्रनाम हमें यह बताता है कि *क्रम* शब्द भी *विक्रम* आदि की ही कोटि का है, और जैसे *विक्रम* विष्णु का नाम है वैसे ही *क्रम* भी उसी का नाम है—

ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः। (*श्लोक* ६)

कुमारगुप्त प्रथम की मुद्राओं पर उसके कई उपनाम मिलते हैं, जैसे—*महेन्द्र, अजितमहेन्द्र, महेन्द्रसिंह, सिंहमहेन्द्र, महेन्द्रकुमार* इत्यादि। क्या यह कौतुकास्पद नहीं कि इनमे जितने भी शब्द आते हैं वे सभी विष्णु के ही नामांतर हैं?—*महेन्द्र, अजित, सिंह* और *कुमार*! पहिले तीन तो अविकल रूप मे ही मिलते हैं (श्लोक २९, ४९, और २२), और अंतिम, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, *स्कन्द, गुह*, आदि के रूप में।

समुद्रगुप्त के उपनामों में जो *पराक्रम, पराक्रमाङ्क, कृतान्तपरशु* आदि उपाधियाँ मिलती हैं उनमे भी विष्णु की *सत्यपराक्रम, खण्डपरशु* आदि संज्ञाएँ प्रतिध्वनित जान पड़ती है (श्लोक २३, ३१, और ६१)।

चक्रविक्रम—यह उपसंज्ञा या उपाधि चंद्रगुप्त द्वितीय की है और जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, यह हाल ही में उपलब्ध सुवर्णमुद्राओं में से एक प्रकार की मुद्रा पर मिलती है। इसमें *विक्रम* पद होने से निश्चित ही यह चंद्रगुप्त द्वितीय की कही जा सकती है। परंतु इसका पूर्वपद *चक्र*, और इसके संयोग से *चक्रविक्रम* उपनाम का बनना आश्चर्यकर है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस मुद्रा पर *चक्रविक्रम* के अतिरिक्त और कोई अभिलेख नहीं है। मूर्त्तियाँ हैं, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं। *चक्रविक्रम* पदवी का स्पष्टीकरण भी विष्णुसहस्रनाम में मिलता है, और वह भी बहुत सुंदरता से —

अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः। (*श्लोक* ९७)

साथ साथ पड़े हुए *चक्री* और *विक्रमी* से किस प्रकार *चक्रविक्रम* पद का दोहन किया गया है! इस प्रकार का दोहन हम ऊपर *देवश्री* के संबंध में भी देख आए हैं।

कुमारगुप्त प्रथम की *अजितमहेन्द्र* और *सिंहमहेन्द्र* उपाधियों के समान चंद्रगुप्त द्वितीय की भी दो उपाधियाँ थीं—*अजितविक्रम* और *सिंहविक्रम*। इसमें की पहिली हमें विष्णु के *अमितविक्रम* नाम की याद दिलाती है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

स्कंदगुप्त की धनुर्धारी प्रकार की मुद्राओं पर उसे *सुधन्वा* (अभिलेखों में *सुधन्वि* अथवा *सुधन्वी* पढ़ा गया है) कहा गया है। यहाँ भी विष्णु के *धन्वी* और *सुधन्वा* नामों का अनुकरण किया जान पड़ता है।

अंत में हम फिर एक बार *अप्रतिरथ* पर दृष्टि डालते हैं जिससे हमने चर्चा आरंभ की थी। अभिलेखों में तो यह उपमा समुद्रगुप्त और उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय दोनों को दी गई है, परंतु जहाँ तक मुद्राओं का संबंध है, यह अभी तक समुद्रगुप्त ही को मिली है। उसकी धनुर्धारी प्रकार की मुद्राओं की पिछली ओर केवल *अप्रतिरथ* लिखा है, और सामने की ओर एक तो है नाम *समुद्र* (अविभक्तिक) जो राजमूर्ति की भुजा के नीचे लिखा है और जिससे मुद्रा की पहिचान होती है कि यह समुद्रगुप्त की ही है, दूसरे वृत्तबद्ध यह अभिलेख—*अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्दिवं जयति*। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि *जयति* क्रियापद का कर्ता केवल *अप्रतिरथः* ही है। और इस अवस्था में वह संज्ञापद है, विशेषण नहीं। पास पड़ा *समुद्र* शब्द वृत्तगत वाक्य से सबद्ध नहीं। एक तो वह वृत्त के बहिर्भूत है, दूसरे अविभक्तिक है और तीसरे उसकी सार्थकता मुद्रापरिचायक चिह्न तक सीमित है। कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ समुद्रगुप्त में अप्रतिरथ रूप विष्णु का अध्यारोप किया गया है। इस सारूप्य को ध्यान में रखते हुए, समुद्रगुप्त के वर्णन में अभिलेखों में लिखे *पृथिव्यामप्रतिरथ* की व्याख्या यदि ऐसी की जाय कि 'जो भूमि पर विचरने वाला साक्षात् *अप्रतिरथ* है' तो कोई आपत्ति न होगी। यहाँ मैं इतना और कह दूँ कि चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री, वाकाटक सम्राट् रुद्रसेन की अग्रमहिषी प्रभावती गुप्ता अपने ताम्रशासनों में केवल अपने पिता को ही *पृथिव्यामप्रतिरथ* कहती है।

समुद्रगुप्त की इलाहाबाद वाली प्रशस्ति में ध्यान से देखा जाय तो पता लगेगा कि कवि ने बड़ी चतुराई से अपने उपजीव्य सम्राट् का जहाँ तहाँ उसे विष्णु का अवतार मानकर वर्णन किया है। एक दो उदाहरण तो हम देख ही चुके हैं, कुछ और भी देख लीजिए—*पराक्रमाङ्कस्य* (पंक्ति १७); *अचिन्त्यस्य* (पंक्ति २५)।

ध्यान रहे कि अचिन्त्य भी विष्णु का एक नाम है (श्लोक २५)। किंच, समुद्रगुप्त के वर्णन में जो *साध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्य* कहा गया है उसमें तो स्वयं भगवान् के इस वाक्य को ही पर्यायांतर से दुहराया गया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ४, श्लोक ८)

अलमतिविस्तरेण! सरसरी तौर पर मेरे ध्यान में जो आया सो मैंने लिख दिया है। मेरा विश्वास है कि इतिहास के मार्मिक विद्वान् विष्णुसहस्रनाम के सम्यक् परीक्षण से गुप्त इतिहास पर प्रकाश डालने वाली और भी बहुत सी उपयुक्त सामग्री ढूँढ़ निकालेंगे।

विष्णुसहस्रनाम की प्राचीनता को देखते हुए कोई इतिहास-प्रेमी इसके प्रति मंदादर नहीं होगा। इसकी प्राचीनता इसी से सिद्ध है कि यह महाभारत का एक अंग है। ऊपर की चर्चा से यह अवश्य ही स्पष्ट हो गया होगा कि गुप्त घराने में इस स्तोत्र का समुचित आदर था। कदाचित् गुप्त परिवार के सभी स्त्री-पुरुष इसका प्रतिदिन पाठ करते रहे होंगे। गुप्त-साम्राज्य की उन्नति के साथ साथ इसकी लोकप्रियता भी बढ़ती रही होगी। यह तो हम जानते ही हैं कि चंद्रगुप्त द्वितीय के समय से भागवत संप्रदाय का बड़ा प्रचार और विस्तार हुआ। चंद्रगुप्त द्वितीय को अभिलेखों में *परमभागवत* कहा है। किंतु यह न समझना चाहिए कि भागवत धर्म गुप्तों में चंद्रगुप्त द्वितीय से ही चला है। वास्तव में इसकी सत्ता तो आरंभ से ही थी—ऊपर की चर्चा से हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में आकर भागवत धर्म ने एक विराट् रूप धारण किया और इसका श्रेय बहुत कुछ चंद्रगुप्त द्वितीय को ही है।

राम-वनवास का भूगोल[1]

(अयोध्या से पंचवटी तक)

श्री राय कृष्णदास

१—राम-वनवास के पहले दो पड़ावों की, जहाँ तक वे रथ पर आए, भौमिक स्थिति असंदिग्ध है। अयोध्या से चलकर वे तमसा (पूरबी टौंस) के तट पर आकर टिक गए, जो वहाँ से लगभग १२ मील है। अयोध्या से उनके निकलते निकलते दिन काफी बीत चुका था और पुरवासियों की एक भीड़ उनके साथ थी, अतः इसके आगे वे न जा सकते थे। यहाँ से वे रातोंरात गुपचुप आगे बढ़े कि अयोध्यावाली भीड़ जो उस समय सोई हुई थी, उनका साथ न पकड़ सके। उनका रथ निरंतर चलता गया। मार्ग में उन्होंने वेदश्रुति (=बिसुई; टौंस से लगभग १० मील), गोमती (वेदश्रुति से १५ मील) तथा स्यंदिका (=सई; गोमती से २० मील) नदियाँ पार कीं। यह स्यंदिका (वर्तमान बेला प्रांत, जिला परताबगढ़) कोसल जनपद की प्राकृतिक दक्षिणी सीमा थी। वहाँ गद्गद हृदय से राम ने

---

१ क—राम-वनवास का संपूर्ण भूगोल तीन लेखों में समाप्त हुआ है। अयोध्या से लंका तक के विस्तृत मार्ग को विषय-विमर्श की सुविधा के लिये तीन खंडों में विभक्त किया गया है—(१) अयोध्या से पंचवटी तक, (२) पंचवटी से ऋष्यमूक तक, (३) ऋष्यमूक से लंका तक। प्रथम खंड का भूगोल प्रस्तुत लेख का विषय है; द्वितीय के लिये द्रष्टव्य—ना० प्र० पत्रिका, भाग ५२ अंक ४। तृतीय खंड का भूगोल यथा समय पत्रिका में प्रकाशित होगा।

ख—वाल्मीकि रामायण की वाचनाओं की दो प्रमुख धाराएँ देश में प्रवाहित हैं—एक उत्तर भारत की, दूसरी दक्षिण भारत की। इन दोनों की अवांतर वाचनाएँ कई हैं। प्रस्तुत लेख में उत्तर भारतवाली की प्रतिनिधि बंगाल वाचना ली गई है और दक्षिण भारतवाली की महाराष्ट्र वाचना। बंगाल वाचना के लिये गोरेसियो नामक इताली विद्वान् द्वारा लगभग सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित संस्करण का उपयोग किया गया है तथा महाराष्ट्र वाचना के लिये निर्णय-सागर प्रेस द्वारा प्रकाशित संस्करण का।

संकेत—बं० रा० = बंगाल रामायण ; मुं० रा० = मुंबई रामायण।

कोसल से बिदा ली और बिना रुके ही अपराह्न में शृंगवेरपुर (=सिंगरौर, जिला इलाहाबाद) पहुँचे जो वेला से लगभग ३५ मील दक्खिन, प्रयाग के उस पार गंगा के उन्नत उत्तरी कगार पर स्थित था। आज का सिंगरौर इसी के पास बसा था जिसे गंगा एक प्रकार से बहा ले गई हैं। प्राचीन बस्तियों के अवशेष इसके आस-पास आज भी दिखाई देते हैं।

राम ने उस दिन रात्रिशेष से दिन के उत्तरार्ध तक लगभग ८० मील तय किए। यतः यहाँ तक रथमार्ग था, अत: घोड़ों की डाक का प्रबंध रहा होगा और स्थान स्थान पर (यथा वेदश्रुति, गोमती और स्यंदिका पर) घोड़े बदले गए रहे होंगे।

२—'शृंगवेरपुर' पहुँच कर राम उसमें प्रविष्ट नहीं हुए। इसी से वाल्मीकि ने उनका 'शृंगवेरपुरं प्रति' [२] जाना लिखा है। वनवास वाले बरसों में उन्होंने कभी नगर-प्रवेश नहीं किया, शृंगवेरपुर की भाँति किष्किंधापुरी और लंकापुरी के भी बाहर ही रहे। शृंगवेरपुर के स्वामी निषादराज गुह उनके सखा थे, जिनके स्नेह को ही उन्होंने आतिथ्य में ग्रहण किया। दूसरे दिन सुमंत्र को अयोध्या लौटाकर तथा अपने सखा गुह से बिदा होकर वे दिन के उत्तरार्ध में गंगा पार हुए। यहाँ से प्रयाग वन आरंभ होता था। कुछ दूर, प्रायः छः सात मील, जाकर दिन बीतता देख वे एक वृक्ष तले विश्रांत हुए और प्रातःकाल भरद्वाज-आश्रम के लिये चल पड़े जो उसी वन में गंगा-यमुना संगम के निकट था। अपराह्न में वे भरद्वाज के आश्रम में पहुँचे।[३] यहीं से रामवनवास के भूगोल का उलझा अंश आरंभ होता है।

३—आजकल भरद्वाज-आश्रम प्रयाग में आनंद-भवन—स्वराज्य भवन, के सामने माना जाता है। अकबर के समय तक गंगा उसके नीचे बहती थीं, किंतु अकबर ने अपना किला बनाने के लिये बाँध बाँध कर गंगा की धार मीलों पूरब हटा दी है। यह भरद्वाज-आश्रम शृंगवेरपुर से कोई बाईस तेईस मील पर है।

पहले दिन कोई छः सात मील पर ठहर कर दूसरे दिन सोलह-सत्रह मील तय करके राम का तीसरे पहर भरद्वाज-आश्रम में पहुच जाना उक्त आश्रम की

२—मुं० रा०, २।५०।२६

३—बं० रा०, मुं० रा०, २।५३।१

४—वही, २।५४।८

दूरी के साथ ठीक ठीक मेल खाता है। फिर भी, उस स्थान को भरद्वाज-आश्रम मानने में एक बड़ी भारी अड़चन हैं। तत्रभवान् डा० काटजू ने १९४५ में समाचार-पत्रों द्वारा पहले-पहल इस ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्हीं के शब्दों में—

"···रामायण के अनुसार भरद्वाज के आश्रम और संगम से चित्रकूट बीस मील दूर था। यह बड़ी गंभीर बात है।.. .. आजकल सड़क सड़क जाइए तो प्रयाग से चित्रकूट सत्तर मील से ऊपर है और हंस-पथ से जाइए तो भी साठ मील से कम न पड़ेगा। चित्रकूट एक पहाड़ है, फलतः एक अचल ठिकाना है। वहाँ रामचंद्र जी का स्थान कामदनाथ जी के नाम से प्रसिद्ध है और उसके निकट प्रयाग की ओर कोई दूसरा पर्वत नहीं है जो चित्रकूट माना जाय।"[५]

वाल्मीकि ने चित्रकूट का और प्रयाग से वहाँ के मार्ग का जैसा स्पष्ट, वास्तविक और ब्योरेवार वर्णन किया है[६] उसका भी उल्लेख तत्र भवान् ने किया है तथा उन्होंने यह भी लक्ष्य कराया है कि उक्त बीस मील की दूरी वाल्मीकि ने एक नहीं, दो दो बार दी है। एक बार जब भरद्वाज ने उसे राम को बताया[७], दूसरी बार जब भरत को।[८] विशेषता यह है कि भरत को बताई गई दूरी योजनों में है—अढाई योजन। अर्थात् इस संबंध मे वाल्मीकि की जानकारी बिलकुल पक्की थी।

४—ऐसी दशा में इस समस्या का सीधा हल यह है कि उन दिनों गंगा शृंगवेरपुर के पास से धनुषाकार पश्चिम को घूम गई थीं और राजापुर के आसपास यमुना में मिली थीं क्योंकि वहीं से चित्रकूट की दूरी बाईस मील है। इधर शृंगवेरपुर भी वहाँ से वही बाईस तेईस मील पड़ता है, जितना आधुनिक प्रयाग से।

यह बात लक्ष्य करने की है कि वाल्मीकि ने गंगा को यमुना से मिलने के लिये पश्चिम घूमी हुई अथवा यमुना को गंगा के वेग से पश्चिम घूम गई लिखा है।[९]

५—"भारत", सितंबर २,'४५

६—मुं० रा०, २।५४।५-१०

७—वही, २।५४।२८

८—वही, २।९२।१०

९—गंगायमुनयोःसंधिमादाय मनुजर्षभ।
कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम्॥—वही, २।५५।४

इसके उक्त दोनों अर्थ होते हैं। किसी टीकाकार ने एक माना है किसी ने दूसरा। किंतु आगे के श्लोक से यमुना का कुछ दूर पश्चिम बह जाना ही व्यक्त होता है।

परिणामतः दोनों स्थितियाँ एक हैं जो राजापुर में ही संभव हैं (द्रष्टव्य मानचित्र)। यह संभावना रामायण के इस स्पष्ट उल्लेख से सर्वथा प्रमाणित हो जाती है कि गंगा के मिलने से परिपूर्ण होकर यमुना समुद्र को जाती हैं।[10] आज सागरंगमा पूर्व-वाहिनी यमुना पश्चिम-वाहिनी गंगा में नहीं मिलती, आज तो पूरब-दक्खिन जाती हुई गंगा में यमुना, जो इलाहाबाद पहुँचकर संगम-स्थल पर नितांत मंथर हो गई हैं, मिलती हैं और गंगा के आग्नेयाभिमुख प्रवाह में घुल जाती हैं।

यद्यपि आज भी संगम के निकट गंगा पश्चिम-वाहिनी कही जाती हैं किंतु वस्तुत: यह कथनमात्र है—उन दिनों का नाम-शेष।

५—नदियों का तथा उनके संगम का इस प्रकार स्थान बदलते रहना इतनी साधारण और आए-दिन-वाली घटना है कि उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। किस प्रकार गंगा-सोन का संगम अजातशत्रु के समय में (ई० पू० पाँचवीं शती) पाटलिपुत्र के नीचे था और आज वहाँ से बारह मील पश्छिम हट गया है, इसका उल्लेख तत्रभवान् ने अपने उक्त लेख में किया है। ई० पाँचवीं शती मे रावी मुलतान के दक्खिन चिनाब मे मिलती थी और व्यास सतलज से मिलने के बजाय रावी के नीचे आकर चिनाब में; किंतु ई० पू० पाँचवीं छठी शती मे व्यास आजकल की भाँति सतलज में ही मिलती थी।

६—इस प्रकार रामायण के अनुसार उस काल वाले प्रयागवन, भरद्वाज-आश्रम एवं गंगा-यमुना संगम राजापुर के आसपास स्थिर होते हैं। इस संबंध में उक्त लेख के अंतिम अंशवाली तत्रभवान् की यह उक्ति बड़ी मार्मिक है—"जहाँ गंगा-यमुना मिलेंगी, वही स्थान संगम कहलाएगा। इस प्रकार प्रयाग और संगम एक दूसरे से मिली हुई चीजें हैं। यह न समझिए कि हमारा प्रयाग और वाल्मीकि का प्रयाग एक होना चाहिए[11]।" "

१०—अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते। यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णवम् ॥
—मुं० रा० २।१०५।१६

११—("भारत", सितंबर ९,'४५)। इस लेख के खंडन में कई लेख निकले। एक में लीलावती शरोंकी बहुत इधरवाली रचना के सहारे पाँच मील का कोस बना कर, वर्तमान सत्तर मील वाली दूरी प्रमाणित की गई है ("भारत", १०-९-४५)। किंतु वाल्मीकि ने राम की जिन मंजिलों का ब्योरा दिया है उनमें से कोई भी अठारह-बीस मील से ऊपर की नहीं। वर्तमान प्रसंग में राम ने प्रयागवन से दिन में चल कर संध्या होते यमुना पार की और एक रात टिककर दूसरे दिन सुबह से चलते हुए अपराह्ण के उपरांत चित्रकूट पहुँच गए। यह समय २० मील

७—भरद्वाज ने राम का सप्रेम आदर-सत्कार किया और उनसे अनुरोध किया कि यहाँ संगम पर बसो।[12] किंतु उन्होंने उत्तर दिया कि यहाँ नित्य अयोध्या के लोग आया करेंगे, अतः यहाँ रहना ठीक नहीं। मुझे कोई ऐसा स्थान बताइए जहाँ एकांत हो और जानकी का भी मन रमे। महर्षि ने कहा कि यहाँ से दस कोस पर चित्रकूट नामक पहाड़ है जो बहुत नयनाभिराम एवं रमणीय है। महर्षि ने उसकी तुलना गंधमादन से की।

राम ने उनके आश्रम में रात बिताई। दूसरे दिन महर्षि ने उनका स्वस्त्ययन किया और बताया कि पश्चिम-वाहिनी गंगा से मिली हुई या गंगा के वेग से पश्चिम को घूमी हुई यमुना के किनारे किनारे धारा के प्रतिकूल पश्चिमाभिमुख जाओ। आगे तुम्हें एक चलता घाट मिलेगा, वहाँ बेड़ा बनाकर यमुना पार करो, इत्यादि। कुछ दूर उनके संग जाकर वे मार्ग भी दिखा आए।

बेड़ा बना कर यमुना पार करके राम परले पार वाले किनारे किनारे कुछ

का ही प्रतिपादक है, अधिक दूरी का नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि वाल्मीकि को दो मील वाला कोस—अर्थात् आठ मील वाला योजन—अभिप्रेत था।

इतना ही नहीं, इस प्रतिपादन के प्रतिकूल सबसे बड़ी बाधा यह है कि यदि हम उक्त १ कोस = ८ मील वाला मानदंड स्वीकार लें तो चित्रकूट मंडल में विराध कुंड से शरभंग आश्रम की दूरी, जो वाल्मीकि ने डेढ़ योजन दी है (बं० रा० ३।८ १७-१८ ; मु० रा० ३।४।२०-२१) और भौमिक स्थिति के अनुसार जिसका तादृश अंतर नहीं है, अड़तालीस मील जा पड़ती है, जो एक असंभव आँकड़ा है। किंतु खंडन के उत्साह में एकपक्षीय होकर ऐसी भूल कर बैठना एक सनातन नियम है।

दूसरे प्रतिपक्षी ने भरद्वाज के दो आश्रम बतलाए हैं - एक वर्तमान, दूसरा चित्रकूट से बीस मील पर ("भारत" ७-१२-'४५)। इसके प्रमाण में वाल्मीकि का एक वचन उपस्थित किया गया है जिसके अनुसार चित्रकूट से रथ द्वारा लौटते हुए भरत ने भरद्वाज से मिलने के उपरांत यमुना पार की (मु० रा० २।११३।६, २१)। इस संबंध में इतना ही कहना अलं है कि यह श्लोक रामायण की बंग-वाचना में, जो अपेक्षाकृत कहीं प्रामाणिक है, नहीं मिलता। भरत का रथ से चित्रकूट जाना-आना मूल रामायण का अंश नहीं। रथ-मार्ग शृंगवेरपुर में समाप्त हो जाता था। उसके बाद भरत सदलबल पैदल ही गए; रथवाला प्रसंग पीछे का पल्लवन है। अतः वह प्रमाण अग्राह्य है।

१२—बं० रा०, २।५७।२२-२३ ; मुं० रा०, २।५४।२२

दूर पश्चिम गए। तब उन्हें वह वट मिला जिसकी चर्चा महर्षि ने उनसे की थी। उस नीलवट की प्रदक्षिणा एवं उससे मंगल-याचना करके सीता-राम-लक्ष्मण बिना रुके किनारे किनारे पश्चिम चलते गए। कोई कोस भर जाकर एक बालुकामयी सजल नदी की रेत में उन्होंने रात बिताई।[१३] प्रातः यमुना-स्नान करके ढाक, बेरी और जामुनों में होते हुए हरियाली, फूल-पत्ती, वन्य खग-मृग तथा मधु के छत्ते निरखते वे चित्रकूट जा पहुँचे।[१४]

८—चित्रकूट नाम से आज जिस स्थान को हम जानते हैं वह (क) अपनी रमणीयता, (ख) सांप्रत प्रयाग से भी अपनी सन्निकटता, (ग) अपने संबंध में निर्विवाद अनुश्रुति तथा (घ) अपने आसपास किसी इतने रमणीय स्थल के अभाववश निश्चय वही चित्रकूट है जिसे राम ने वनवास में अपना पहला आवास बनाया था। मंदाकिनी (वर्तमान पइसुनी) किनारे एक अभिराम स्थल खोजकर उन्होंने अपनी कुटी बनाई।[१५] किंतु वहाँ वे अधिक रहने न पाए। एक महीना बीतते न बीतते, उन्हें लौटा लाने के लिये भरत पहुँचे और यद्यपि वे अकृतकार्य फिरे, फिर भी वहाँ नित्य अयोध्या-वासियों के आते रहने की आशंका उत्पन्न हो गई थी एवं हाथी घोड़ों ने जंगल को गंदा भी कर दिया था; अतः भरत के जाने पर राम ने और गहन वन में प्रविष्ट होना निश्चत किया।[१६] इसका एक और हेतु था जिसपर आगे प्रकाश डाला जायगा (१०)।

९—चित्रकूट से वे अत्रि मुनि के आश्रम में चले गए।[१७] यहाँ से दंडकारण्य का दुर्गम भाग आरंभ होता था, किंतु इन वनों में भी ऋषियों का निवास था। चित्रकूट से लेकर दक्षिण में पंपा तक उनके आश्रम थे। पंपा संभवतः ऋषि-निवास की दक्षिणी परिसीमा थी।[१८] इन आश्रमों के कारण इन वनों में ऋषियों का यातायात रहता, अतएव उन लोगों का एक मार्ग भी था। वही मार्ग राम ने ग्रहण किया था।[१९]

१३—यह नदी यमुना के उन 'भरकों' में से रही होगी जिनकी उस ओर भरमार है।

१४—बं० रा०, २।५६।७-१३; मुं० रा०, २।५६।१२

१५—बं०रा० २।५६।१६; मुं० रा०, २।५६।२०

१६—बं० रा० ३।२।४; मुं रा० २।११७।४

१७—बं० रा० ३।२।५; मुं० रा० २।११७।५

१८—बं० रा०, ३।१०।१८; मुं० रा० ३।११।१७

१९—बं० रा० ३।१।१७, ३।५।२१; मुं० रा०, २।११९।२१

अत्रि-आश्रम में वे बसे नहीं। वहाँ से आगे चलने पर दुर्गम वन की गहराई में उन्हें विराध राक्षस मिला, जिसे मारकर वे शरभंग ऋषि के आश्रम में पहुँचे।[20] ये तीनों स्थान चित्रकूट प्रांत मे मंदाकिनी किनारे आज भी बतलाए जाते हैं। चित्रकूट से लगभग १० मील दक्खिन अत्रि (= अनसूया) का आश्रम है और उससे ३ मील दक्खिन विराध-कुंड, जहाँ भगवान ने विराध को मारा था। वहाँ से ५ मील पर, दक्षिण दिशा में शरभंग का आश्रम है। सभवतः ये तीनों स्थान वास्तविक है, क्योंकि रामायण में इनमें से अंतिम—शरभंग आश्रम—की विराध कुंड से दूरी डेढ़ योजन दी है, जिसकी उक्त ५ मील से सन्निकटता है। साथ ही इस आश्रम मे दक्षिण-पूर्व से आकर एक नदी मंदाकिनी में मिलती है जिसका नाम आज भी, मुनि के कारण, शरभंगा[21] चला आ रहा है। यद्यपि रामायण मे इसका उल्लेख नहीं है फिर भी शरभंग-आश्रम के स्थल का यह भी एक प्रमाण है। फलतः चित्रकूट और इस स्थान के मध्यवर्ती अनसूया[22] तथा विराध-कुंड[23] भी काल्पनिक नहीं हो सकते।

१०—शरभंग के आश्रम में भी राम न रहे। उनके इस प्रकार बढ़ते जाने के हेतु पर यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है। रामायण के वर्तमान रूप में इस हेतु की चर्चा कुछ गौण हो गई है, फिर भी तनिक ध्यानपूर्वक देखने से वह स्पष्ट हो जाती है।

बुंदेलखंड का जो भाग युक्तप्रांत में पड़ता है उसके पूरबी अंश को तथा उसके नीचे दक्खिन में सागर-दमोह वाले भूभाग को (जो भौमिक दृष्टि से मालवे का चढ़ाव है) एवं मैहर को लपेटता हुआ एक लंबोतरा भूभाग है। इसकी प्राकृतिक परिसीमा कुछ कुछ इस प्रकार निर्दिष्ट की जा सकती है कि उत्तर-दक्खिन दंडायमान पन्ना की ऊंची गिरि-शृंखला और उसकी पूरबी गोंट केन नदी, इसकी पूरबी सीमा है। प्रायः उसकी समानांतर रेखा में चलनेवाली विंध्य की वह शाखा जो धसान नदी का पूरबी कगार बनती है, इस भूभाग की पश्चिमी सीमा है। विध्यवाली इस भुजा की ऊँचाई प्रायः वही है जो पन्ना के पहाड़ों की—कोई पंद्रह सौ, दो हजार फुट। इन दोनों शृंखलाओं के ऊपरी अंश एक होकर एक उर्वर पठार बनाते है। यही पठार आसपास के सिवानों को लेकर किसी समय दंडक वन के

२०—वं० रा०, ३।७।५,१३, और ३।९।१ ; मुं० रा० ३।२।४, ३।५।१३

२१, २२, २३—द्र० बाँदा गजेटियर, पृ० १६–१७

नाम से प्रसिद्ध था—संभवतः अपने याम्योत्तर लंबेपन के कारण। रामायण में भी इसकी यही परिसीमा दी है; वहाँ पन्ना शृंखला का नाम शैवल है यह बात लक्ष्य करने की है कि पन्ना (स्थानिक रूप—परना) शैवल, दोनों ही नाम जो इस पहाड़ ने समय समय पर पाए हैं, इसकी सघन स्निग्ध हरीतिमा के द्योतक हैं।

दंडक वन की उक्त प्राकृतिक परिसीमा के अतिरिक्त उसके निकटवर्ती चित्रकूट आदि के वन भी दंडक में परिगणित हैं। इसी कारण अपने प्राचीन साहित्य में दंडक शब्द का प्रयोग इस अर्थ में बहुवचन में भी हुआ है।

इस समूचे दंडक वन की भूमि जिन मिट्टियोंवाली है उनमें एक भाँति की काली मिट्टी होती है—काबर। यह नाम संस्कृत 'कर्बुर' शब्द से बना है। इन्हीं प्रदेशों में उन दिनों एक जाति बसती थी जो अपनी रंगत में इस मिट्टी की संतान थी और—संभवतः इसी रंग-साम्य के कारण—उस जाति का भी एक नाम कर्बुर था। हम इस जाति को इसके अधिक प्रचलित नाम—राक्षस—से भली भाँति जानते हैं।

दंडक वन का दक्खिनी छोर, दमोह-मैहर वाला अंश, इन राक्षसों का प्रधान जनपद था। इसका तत्कालीन नाम जनस्थान था। राक्षसों का एक नाम पुण्यजन भी है। संभवतः जनस्थान शब्द उसी से संबंधित है—पुण्यजन-स्थान का लघु रूप है। जनस्थान के आगे दक्षिण में क्रौंचालय तथा अंशतः किष्किंधा और मतंग वन पड़ता था जो पंपा तक जाकर समाप्त होता था। समूचा दंडकारण्य, कहीं कम कहीं अधिक, राक्षसों से गढ़ा हुआ था जो उसमें बसे हुए ऋषियों को निरंतर मारते खाते रहते। कहीं कहीं तो इस प्रकार प्राण गवाने वाले अभागों की हड्डियों के ढेर लग गए थे। अतएव राम-वनवास को ऋषि-मुनियों ने अपना अहोभाग्य माना। आरंभ से ही वे राम से बिनती करने लगे कि उनको निष्कंटक कर दें। मुनियों और मुनि-शिष्यों का एक दल सुतीक्ष्ण-आश्रम से ही उनके साथ हो लिया कि उन्हें राक्षसों की नृशंसता दिखाता हुआ यह बाधा दूर करा ले। राम ऐसा करना चाहते थे,[24] यद्यपि आरंभ से ही सीता इसकी विरोधिनी थीं।[25] निदान, वे शरभंग के आश्रम में भी न बसे; उन्होंने सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाना निश्चित किया।[26]

२४—बं० रा०, ३।१०।२५; मुं० रा०, ३।६।२२-२४

२५—बं० रा०, ३।१३।२२; मुं० रा०, ३।९।२४-२५

२६—बं० रा०, ३।१०।२६; मुं० रा०, ३।६।२६

एतदर्थ शरभंग ने उन्हें मार्ग बता दिया।[२७] तदनुसार वे मंदाकिनी के प्रतिस्रोत अर्थात् उसके उद्गम की ओर गए और आगे जाने पर उन्होंने एक वेगवती नदी पार की। तब उन्हें एक उन्नत शैल पर विपुल वन दिखाई दिया। इसी वन में सुतीक्ष्ण का निवास था।[२८]

११—वर्तमान भूगोल के अनुसार उक्त वेगवती नदी केन (=शुक्तिमती) ठहरती है जो मंदाकिनी के उद्गम से कोई ३५-३६ मील की दूरी पर पड़ती है। मंदाकिनी के उद्गम से ही, कुछ कुछ उसके समानांतर बहती हुई, यह भी उसीकी भाँति यमुना में मिल जाती है। इस केन के पश्चिम ओर पन्ना के ऊंचे पहाड़ पड़ते हैं, जहाँ इधर का चित्रकूट वाला लगभग छः सौ फुट ऊंचा पहाड़ उधर एकाएक पंद्रह सौ फुट ऊंचा हो जाता है। इस भौमिक वास्तविकता से उक्त रामायणीय वर्णन सर्वथा सम्मत है।

१२—वर्तमान अजयगढ़ राज्य से कहीं पर, उदाहरण के लिये मंदाकिनी के उद्गम से कोई ५० मील दूर नोनापानी पर, केन पार करके राम जहाँ पन्ना के पहाड़ों में सुतीक्ष्ण आश्रम में पहुँचे होंगे वह स्थान आधुनिक बिजावर राज्य में, न्यूनाधिक बिजावर नगर की सीध में, कहीं रहा होगा। सुतीक्ष्ण के आश्रम में एक ही रात रह कर वे आगे बढ़े।[२९] कितने ही वन, पर्वत और नदियाँ पीछे छोड़ आने पर उन्हें एक योजन विस्तृत पंचाप्सर नामक सरोवर मिला जहाँ ऋषियों के अनेक आश्रम थे। ये आश्रम पंचाप्सर के इर्द गिर्द रहे होंगे। इनमें कहीं महीना भर, कहीं दो महीने, कहीं चार-छः महीने और कहीं बरस दो बरस रह कर राम ने अपने वनवास के दस बरस काट दिए। तदुपरांत वे पुनः सुतीक्ष्ण के आश्रम में लौट आए[३०]; क्योंकि यद्यपि इन दस वर्षों में उन्होंने पंचाप्सर प्रदेश की राक्षस-बाधा मिटा दी थी, फिर भी अभी यह उपद्रव निर्मूल न हुआ था।

१३—पंचाप्सर सर दंडकारण्य की दक्षिणी-पश्चिमी सीमा पर था। इसके पूरब, दमोह से जनस्थान चलता था जो मैहर राज्य तक लंबायमान था। उसमें अभी राक्षसों का उपद्रव शेष था जिसकी सफाई आवश्यक थी। रामायण में

२७—बं० रा०, ३।६।११ १२; मुं० रा०, ३।५।३५-३७

२८—बं० रा०, ३।११।१-२; मुं० रा, ३ ७।१-२

२९—बं० रा०, ३।१२।१, १७; मुं० रा०, ३।८।१, २०

३०—बं० रा०—३।१५।२३-२८; मुं० रा०, ३।११ २५-२८

राम द्वारा जनस्थान में चौदह हजार राक्षसों के मारे जाने की चर्चा बार बार हुई है।[31] यद्यपि रामायण के वर्त्तमान रूप के अनुसार ये वध दंडक वन में किए गए थे, फिर भी रामायण से ही यह स्पष्ट है कि जनस्थान के समूचे निवास-काल में (सीता-हरण के पूर्व) उन्होंने इतने राक्षस मारे।

१४—दंडक का उक्त नैर्ऋत्य छोर जिसमें पंचाप्सर सर था, वर्तमान सागर जिला है जिसकी पश्चिमी सीमा पर याम्योत्तर बहती हुई धसान इस पठार को मालवे से विभक्त करती है। यह जिला अपना नाम 'सागर' सागर नाम की उस विशाल प्राकृतिक झील से प्राप्त करता है जिसके तट पर सागर नगर बसा हुआ है। टालमी में भी इसका उल्लेख 'सागेडा'[32] नाम से है। यही सागर रामायणीय पंचाप्सर सर है जिसके इर्द-गिर्द ऋषियों के बहुतेरे आश्रम थे। सुतीक्ष्ण-आश्रम की भौमिक स्थिति निर्धारित हो जाने पर, सागर के अतिरिक्त और कौन सी झील हो सकती है जहाँ राम कितने ही वन, पर्वत और नदियाँ पीछे छोड़ते हुए पहुँचे हों? केन के तट से सागर तक ऐसा और स्थान नहीं पड़ता जहाँ जल का इतना निचय हो।

१५—सुतीक्ष्ण-आश्रम में पुनः पहुँचकर वहाँ कुछ दिन टिकने पर राम ने मुनि से कहा कि इसी वन में कहीं अगस्त्य ऋषि रहते हैं, अब मैं कुछ दिन उनकी सेवा में रहना चाहता हूँ, मुझे उनके आश्रम का मार्ग बताइए।[33] सुतीक्ष्ण ने बताया कि यहाँ से चार योजन दक्षिण पिप्पली के वन में अगस्त्य के भाई का आश्रम है और उससे एक योजन दक्षिण अगस्त्य-आश्रम है।[34]

राम का अगस्त्य-आश्रम जाने का संकल्प विशेष महत्व रखता है। अगस्त्य (अर्थात् अगस्त्य ऋषि-वंश) दक्षिण बढ़ने वाले ऋषियों में प्रमुख थे और उन्होंने

३१—बं० रा०—३।२२।३४, ३।३३।४०, ३।३५।२६, ३।३६।१, ३।३७।१२, ३।३८।३, मुं० रा०, ३।२५।३५, ३।२९।२४

३२—"Sagar is supposed to be the Sageda of Ptolemy. The name is derived from Sagar, a lake, after the large lake round which it is built."

—इंपीरियल गजेटियर ऑव इंडिया, जिल्द २२, पृ० १७८.

३३—बं० रा०, ३।१५।३२-३४, मुं० रा०, ३।११।३२-३४

३४—बं० रा०, ३।१५।३६, ४०, ४१, मुं० रा०, ३।११। ३७-३८, ४१

राक्षसों से टक्कर लेकर दक्षिण को शरण्य (बसने योग्य) बनाया था।[35] एतदर्थ वे अस्त्रों का उपयोग भी करते रहे होंगे। रामायण की इस कथा से कि उन्होंने अपनी कुटी में से लाकर राम को दिव्यास्त्र दिए[36], यही प्रकट होता है कि उनके यहाँ अस्त्रों का संचय रहता था। वस्तुतः राक्षसों के भारी भारी समूहों पर इक्के दुक्के आर्यों की विजय का गुर यही है कि राक्षस शस्त्रों का ही, जो हाथ में रख कर चलाए जाते थे, उपयोग जानते थे। अस्त्रों—अर्थात् ऐसे हथियारों का जो अपेक्षया अधिक यांत्रिक हैं, जैसे विभिन्न प्रकार वाले धनुष-बाण और चक्र आदि—का उपयोग उन्हें अज्ञात था।

१६—अगस्त्य-भ्राता के यहाँ होते हुए राम अगस्त्य-आश्रम में पहुँचे।[37] अगस्त्य ने उन्हें वहीं रहने को कहा, किंतु राम ने कहा कि मुझे ऐसा स्थान बताइए जो बहुकानन हो और जहाँ जल का सुपास हो। मुनिवर ने विचार कर कहा कि यहाँ से दो योजन पर पंचवटी नामक प्रदेश है। उसके पास ही गोदावरी बहती है। आप वहाँ बसें, वहाँ हर प्रकार की सुविधा है। सामने आपको महुए का बड़ा भारी वन दिखाई दे रहा है। इसके उत्तर से जाइए, आगे आपको वट-वृक्ष मिलेगा। उसके पास ही पर्वत के निकट उपारूढ़स्थली है, वही पंचवटी है।[38]

१७—यह पंचवटी राक्षसों की ठेठ बस्ती जनस्थान का, जिसमें उनके प्रमुख खर, दूषण एवं त्रिशिरा भी रहते थे, आग्नेय भाग थी। यही कारण था कि अगस्त्य जैसे विक्रान्त महर्षियों को छोड़ कर अन्य महर्षियों को इस ओर बढ़ने का साहस न हुआ था। राम का पंचवटी-निवास संभवतः इस गढ़ का सफाया करने के लिये ही हुआ था, क्योंकि ऐसे उच्छेद बिना पंचाप्सर सर वाला क्षेत्र कितने दिन निष्कंटक एवं सुरक्षित रह सकता था?

१८—बिजावर के आसपास, जैसे नोनापानी में, सुतीक्ष्ण-आश्रम मान कर पंचवटी पहुँचने के लिये यदि हम उक्त ४+२+१=७ योजन, अर्थात् ५६ मील दक्षिण जायँ तो हम केन नदी के उद्गम (अक्षांश २३·८° उ०, रेखांश ८०° पू०, जबलपुर में कटनी से कोई दस मील की दूरी पर) के आसपास पहुँच जाते हैं।

३५—वं० रा०, ३।१६।१२, ३।१७।१८; मुं० रा० ३।११।५४, ८१

३६—वं० रा०, ३।१८।३७-४७; मुं० रा०, ३। १२।३२-३७

३७—वं० रा०, ३।१७।१७; मुं० रा०, ३।११।७९

३८—वं० रा०, ३।१९।१४, १८,१९-२१; मुं० रा०, ३।१३।१३, १८,२१-२२

इससे रामायण वाले पंचवटी-वर्णन का अद्भुत समाधान होता है, क्योंकि उसमें हम पंचवटी के सन्निकट एक प्रस्रवण गिरि पाते हैं और प्रस्रवण हमारे प्राचीन साहित्य में वही वस्तु है जिसे हम आज नदी का उद्गम-प्रपात कहते हैं। इस प्रकार हम पंचवटी का स्थल केन के निकास के आसपास पा जाते हैं। इन प्रदेशों के स्थल-निर्णय के लिये पीपल और महुए के वनों वाले उल्लेख भी बहुत महत्व के हैं, क्योंकि उल्लिखित प्रदेश ही ऐसे विभाग हैं जहाँ आज भी पीपल और महुए के जंगलों की बहुतायत है।

पंचवटी-निवास में राम को जटायु सरीखा अनुचर प्राप्त हुआ, यह एक बड़ी बात है। वह जनस्थान में ही बसनेवाली एक अल्पसंख्यक जाति का व्यक्ति जान पड़ता है। प्रायः आदिम जातियाँ अपना उद्भव किसी पशु, पक्षी आदि से मानती हैं जो उनका जाति-नाम बन जाता है। यही बात गृद्ध जाति के संबंध में भी है। जटायु के भाई-भतीजे एवं परिवार का वर्णन तो मिलता ही है[39], महाभारत में उसकी बाहों का (डैनों का नहीं) वर्णन भी मिलता है।[40] अतएव इस विषय में किसी ननु-नच की संधि नहीं रह जाती।

१६—केन के निकट पंचवटी मानने में सबसे बड़ा अड़ंगा यह प्रतीत होता है कि अगस्त्य ने उसे गोदावरी तीर पर बताया है (१६)। परंतु यह अड़ंगा निस्सार है। गोदा[41], गोदारि[42] आदि शब्द अनार्य, संभवतः द्रविड़, भाषा के हैं जो नदी या जल की धाराओं के लिये जातिवाचक संज्ञा हैं। जान पड़ता है कि यहाँ यह शब्द (रामायण में प्रयुक्त लंका[43], मलय[44] आदि आदिम भाषा के अन्य

३९—वं० रा०, ३।२३।६

४०—स बध्यमानो गृध्रेण रामप्रिय हितैषिणा।
बाहुमादाय चिच्छेद भुजौ तस्य पतत्रिणः॥
—कुंभकोणम् संस्करण। रामोपाख्यानपर्व १८, अ० १८०, श्लोक ६।

४१—जहाँ नदी दो धाराओं में फट जाती है और बीच में टापू सा पड़ जाता है उसे बुंदेलखंडी में गोदा कहते हैं, जो संभवतः इसी अनार्य शब्द का एक रूप है और अपने वास्तविक अर्थ के बहुत निकट है।

४२—गोदारि = नदी। काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह में डा० हीरालाल का 'अवधी हिंदी प्रांत में राम-रावण युद्ध' शीर्षक लेख, पृ० २५-२६।

४३—लंका = टीला या टापू, वही पृ० २७

४४—मले (द्रविड़) = मलय = पर्वत देश (देशीनाममाला, ६।१४४)।

जातिवाचक शब्दों की भाँति) इस कारण प्रयुक्त हुआ है कि संभवतः उस समय तक आर्यों ने केन का नामकरण नहीं किया था। पीछे से जब गोदावरी शब्द नदी-विशेष के अर्थ में रूढ़ हो गया तभी गड़बड़ी पैदा हुई और पंचवटी नासिक में गोदावरी-तट पर फेंक दी गई।

२०—इस प्रकार निर्णीत पंचवटी की यदि हम वहाँ से ऋष्यमूक की (जो पंचमढ़ी प्रमाणित हो चुकी है[४५]) दिशा एवं दूरी द्वारा जाँच करें तो यह उसमें भी खरी उतरती है, जो इसके लिये एक और प्रमाण हो जाता है। पंचवटी से निकल कर राम को ऋष्यमूक के लिये निरंतर पश्चिम-दक्षिण जाना पड़ता है[४६] जो केन के उद्गम से ठीक पंचमढ़ी की दिशा में है। साथ ही इन स्थानों के बीच की दूरी कोई १४५ मील है जो रामचंद्र के लिये ७ दिनों का मार्ग था; क्योंकि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, उनकी एक दिन वाली मंजिल गोल आँकड़ों में बीस मील की होती है। इस मार्ग में उनका एक रात टिकाव रामायण में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। इस उल्लेख को जब हम उसी प्रसंग वाले इस ब्योरे के साथ पढ़ते हैं कि वे पर्वत पर पर्वत और वन पर वन पार करके ऋष्यमूक के पार्श्ववर्ती मतंग-आश्रम में पहुँचे[४७] तो हम असंदिग्ध हो जाते हैं कि यह मार्ग चार-पाँच पड़ाव का अवश्य रहा होगा, जो उक्त दूरी के साथ ठीक ठीक जुट जाता है।

———

पुनश्च—पृष्ठ १६ पंक्ति ३ में '...समुद्र को जाती है' के अनंतर पूर्णविराम न होकर इतना और पठनीय है—'और भागीरथी गंगा यमुना में मिलती हैं'।[४८]

४५—ना० प्र० पत्रिका ५२।४ में 'ऋष्यमूक किष्किंधा की भौगोलिक अवस्थिति' शीर्षक लेख।

४६—मुं० रा०, ३।६४।१, २, ४

४७—वही, ३।७३।२-११

४८—यत्र भागीरथी गङ्गा यमुनामभिप्रवर्तते।

जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम्॥

—वा० रा० (कौन सी प्रति), २।५४।२

मंडोर

[श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ]

मंडोर (अथवा मांडव्यपुर) मारवाड़ की प्राचीन राजधानी था। यह जोधपुर नगर से ५ मील उत्तर की ओर एक पहाड़ी सिलसिले पर बसा हुआ था जो भीमसेन (भोगिशैल) के नाम से प्रसिद्ध है।

यद्यपि मंडोर नगर इस समय बिल्कुल उजड़ चुका है तथापि उक्त पहाड़ी के तल में इस समय भी मंडोर नाम का एक गाँव बसा हुआ है। पुराना मंडोर दक्षिण में इस गाँव से लेकर उत्तर में जोधपुर की रानियों की छतरियों तक और पूर्व में नागकुंड से लेकर पश्चिम में एक मील की दूरी तक फैला हुआ था।

इस प्राचीन राजधानी के भग्नावशेषों में दो विशाल स्तंभ सबसे प्राचीन हैं। ये वास्तव में किसी द्वार के स्तंभ रहे होंगे। परंतु कर्नल टाड के वर्णन से प्रकट होता है कि उसने इन्हें तोरण के रूप में देखा था। इनकी लंबाई १२-१३ फुट, चौड़ाई २ फुट और मोटाई १० इंच के लगभग है। तोरण के स्तंभ प्रायः चौकोर या गोल देखने में आते हैं और उनपर चारों ओर खुदाई की हुई मिलती है, परंतु इन स्तंभों पर केवल एक ही ओर खुदाई का काम किया हुआ है।

ये स्तंभ चौथी शताब्दी के प्रतीत होते हैं। इनमें प्रत्येक पर छोटे बड़े ५—५ खंड बने हुए हैं। इन खंडों में से केवल एक को छोड़कर शेष सबमें श्रीमद्भागवत-वर्णित श्री कृष्णचंद्र की कुछ लीलाएँ खुदी हुई हैं। यद्यपि इन स्तंभों पर समय ने अपना अत्यधिक प्रभाव डाला है, तथापि इनका जो कुछ भी अंश बच रहा है वह तक्षणकार की कला का सुंदर नमूना है।

पहले स्तंभ (द्रष्टव्य—चित्र सं० १) के ऊपरी खंड में गोवर्धनधारी कृष्ण बने हैं जो अपनी हथेली पर गोवर्धन पर्वत उठाए हुए हैं। श्रीकृष्ण के वाम भाग में बलराम तथा एक ग्वाला और तीन ग्वालिनें हैं। गोवर्धन पर्वत की छोटी बड़ी सात चोटियाँ दिखाई गई हैं। पर्वत पर एक सिंह और सिंहिनी (?) तथा फन काढ़े हुए दो सर्प भी बने हैं। दूसरे खंड में गाएँ बनी हैं जिनको श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत की छाया में इंद्र के कोप से बचाया था। तीसरे खंड में आठ पंक्तियों का एक लेख था

मंडोर



चित्र सं० १



चित्र सं० २



चित्र सं० ३

जो अनुमान से चौथी शताब्दी के मध्य का रहा होगा। परंतु इस समय उसमें से केवल एक अक्षर 'नं' (?) को छोड़कर शेष समूचा लेख नष्ट हो चुका है।

इस स्तंभ का चौथा खंड दो खड़े भागों विभक्त है। दाहिने भाग में गाएँ हैं और बाएँ भाग में दधि-मंथन करती हुई यशोदा खड़ी हैं तथा पास ही बैठे हुए बाल कृष्ण मथानी में से मक्खन निकाल रहे हैं। पाँचवें खंड में यशोदा और श्रीकृष्ण पलंग पर लेटे हुए हैं। श्रीकृष्ण के दाहिने हाथ में एक खिलौना है जो पक्षी सा प्रतीत होता है। अपना बायाँ हाथ वे माता के स्तन पर रखे हुए हैं। यशोदा की दूसरी ओर एक गाड़ी उलटी हुई पड़ी है जो श्रीमद्भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण की शकट-भंग लीला की द्योतक है।

दूसरे स्तंभ (द्रष्टव्य—चित्र सं० २) के पहले खंड में बलराम गर्दभरूपी धेनुकासुर को उसका पिछला बायाँ पैर पकड़ कर लटकाए हुए, एक ताल वृक्ष के नीचे खड़े है। इसके दूसरे खंड में श्रीकृष्ण कालियनाग के ऊपर खड़े हुए हैं। उनका बायाँ पैर कालिय के मस्तक पर और दाहिना उसके शरीर पर रखा हुआ है। उनके बाएँ पैर में कालिय की पूँछ है और दाहिने में एक पुष्पगुच्छ, जिसमें इधर उधर दो कलियाँ तथा बीच में विकसित कमल है। यहाँ पर कालिय नाग का शरीर तो सर्प का, किंतु मस्तक मनुष्य का दिखाया गया है, और गर्दन के पीछे से फन उठा हुआ है। कालिय के पास ही उसकी स्त्री नागिन बनी हुई है जो रक्षा की प्रार्थना कर रही है। श्रीकृष्ण की बाँई ओर संभवतः बलराम हैं जो श्रीकृष्ण से, नाग-पाश से छूटकर बाहर आने को कह रहे हैं। श्रीकृष्ण की दाहिनी ओर नालसहित विकसित कमल है। इसके द्वारा श्रीकृष्ण का जलाशय में होना सूचित किया गया है।

इस स्तंभ के तीसरे खंड में ग्वाल-वेशधारी प्रलंबासुर के कंधे पर बैठे हुए बल-राम उसके मस्तक पर मुष्टिक प्रहार कर रहे हैं। उनकी दाहिनी ओर श्रीकृष्ण के कंधे पर बैठा हुआ श्रीदामा, और भद्रसेन के कंधे पर चढ़ा हुआ वृषभ नाम का ग्वाला बना है। चौथे खंड में श्रीकृष्ण, बैल का रूप धरकर आए हुए केशी दैत्य के मुँह में अपना बायाँ हाथ घुसेड़ कर उसका दम घोंट रहे हैं।

मंडोर नामक आधुनिक ग्राम और भोगिशैल की पहाड़ी पर स्थित प्राचीन किले के बीच एक बगीचा है, जिसमें खुदाई करने से मिट्टी के कई बड़े बड़े घड़े निकले थे। इन घड़ों के किनारों पर गुप्तकाल की लिपि में 'विलइय' लिखा है। यह

संभवतः कुम्हार का नाम होगा, जो गीली मिट्टी में तिनके से खोद दिया गया होगा। इसी के साथ एक पुरुष की टूटी हुई पाषाण-मूर्ति निकली है जिसका केवल कमर से ऊपर का ही भाग अवशिष्ट है। इसकी ऊँचाई एक फुट दस इंच और चौड़ाई एक फुट सात इंच है। इसके सिर पर न्यायाधीश की आधुनिक टोपी (विग) के समान शिरोवेष्टन है। गले में एक कंठा और हाथों में भुजबंध और कड़े हैं। बायाँ हाथ आगे से टूटा हुआ है और दाहिने में एक पुष्प है। ये दोनों वस्तुएँ भी गुप्तकालीन हैं।

इसी स्थान से आठवीं शताब्दी के आसपास के चाँदी के तीस छोटे छोटे गोल सिक्के भी निकले थे। इनका तोल सात से नौ ग्रेन के बीच, विस्तार ·४ इंच तथा मोटाई ·०८ इंच है। इनपर अरबी अक्षरों में निम्नलिखित नाम पढ़े गए हैं—

(१) अमीर अबदुल्ला, (२) वली अब्दुल्ला, (३) मुहम्मद, (४) बनु अमराबिया, (५) बनु अलाबिया, (६) बनु अब्दुर्रहमान और (७) मुहम्मद।

ये खलीफाओं की तरफ से सिंध के शासक थे।

यहाँ के पुराने किले की दीवारें लगभग १५ फुट चौड़ी थीं। महाराजा बखतसिंह के समय में वि० सं० १८०८ में जोधपुर की शहरपनाह को बढ़ाने के लिये यहाँ का बहुत-सा पत्थर काम में लिया गया था। फलतः जोधपुर नगर की चारदीवारी से प्रतिहार बाउक का वि० सं० ८९४ का एक लेख मिला है। यह मंडोर से ही अन्य पत्थरों के साथ यहाँ आ गया होगा। इसमें लिखा है कि बाउक के दस पीढ़ी पहले के रज्जिल नामक व्यक्ति ने अपने भाई की सहायता से मंडोर पर अधिकार कर वहाँ पर प्राकार बनवाया था। इस रज्जिल का समय छठी शताब्दी के अंत के आसपास आता है। हो सकता है उसका यह प्राकार पुराने किले की उपर्युक्त दीवार रहा हो।

इस किले के दक्षिण-पूर्व भाग में एक हिंदू मंदिर का भग्नावशेष (द्रष्टव्य—चित्र सं० ३) विद्यमान है। यह एक-पर-एक तीन चबूतरों के ऊपर बीचोबीच बना है। ये चबूतरे नीचे से ऊपर की ओर एक दूसरे से छोटे होते गए हैं और इनपर चढ़ने के लिये पश्चिम की ओर छोड़कर शेष तीन ओर से सीढ़ियाँ बनी हैं। ऊपर मंदिर के गर्भगृह का नीचेवाला कुछ भाग बचा हुआ है। यह सातवीं या आठवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। वहीं पर मिले खुदाई के कामवाले पाषाणों से यह भी ज्ञात होता है कि इसकी मरम्मत नवीं और बारहवीं शताब्दी में की गई थी।

इस चौकोर गर्भगृह की भीतरी लंबाई-चौड़ाई ९ फुट ८ इंच और बाहरी ११ फुट है। इसकी बची हुई दीवारों की ऊँचाई लगभग ८ फुट तथा चौड़ाई ४ फुट ८ इंच है। इसमें जो बड़े बड़े पत्थर लगे हैं उनके जोड़ने में चूने या गारे का उपयोग नहीं किया गया है। वे लोहे की कीलों (चाउयों) से जोड़े गए हैं। दीवार का बाहरी भाग कई प्रकार के बेलबूटे, पक्षी, कीर्तिमुख, मनुष्यों के मस्तक आदि खोद कर सुंदर बनाया गया है।

इस दीवार में पत्थरों के पाँच स्तर हैं। इनमें ऊपर का स्तर जो अपेक्षाकृत बड़े पत्थरों का है और जिसपर त्रिभुज बने हैं, बारहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है क्योंकि इसकी खुदाई साधारण है।

विक्रम की दसवीं शताब्दी में इस मंदिर में एक सभामंडप बनाया गया था जिसके भग्नावशेष के रूप में छः टूटे स्तंभ मंदिर के सामने पड़े हैं। इनपर खुदाई क बहुत अधिक काम किया हुआ है जिसमें गंधर्व (गायक), कीर्तिमुख और फूल-पत्तियाँ आदि बनी हैं।

इस मंदिर के तीनों चबूतरों की खुदाई के काम देखने से अनुमान होता है कि ये भी इस मंदिर के साथ बारहवीं शताब्दी में जोड़े गए होंगे। नीचे के चबूतरे को छोड़कर शेष दो की दीवारों पर चारों ओर खुदाई का काम किया हुआ है, परंतु वह प्राचीन मंदिर की दीवारों पर की खुदाई का मुकाबला नहीं कर सकता। बीचवाले चबूतरे की दीवार पर कीर्तिमुख और तिकोने बूटे बने हैं, परंतु ऊपर के चबूतरे की उत्तरी दीवार पर सेना का प्रयाण दिखलाया गया है। इसमें अश्वारूढ़ सेनानी के पीछे पैदल और रथारूढ़ सेना चल रही है। रथों को ऊँट खींच रहे हैं, जो मारवाड़ जैसे रेतीले प्रदेश के योग्य ही प्रदर्शन है। इसी के निकट कुएँ से पानी निकालने का रहट बना है। पास ही एक ऊँट खड़ा पानी पी रहा है और दूसरा उसके पीछे से पानी पीने आ रहा है। ऐसे रहट मारवाड़ में इस समय भी काम में लाए जाते हैं। इसी प्रकार युद्ध-प्रवृत्त योद्धाओं का भी एक दृश्य है और घोड़े-जुते रथ में बैठे योद्धा रण-भूमि की ओर जा रहे हैं।

यह मंदिर वास्तव में एक वैष्णव मंदिर के रूप में बनाया गया था, परंतु अंत में यह शैवों के हाथ में चला गया। वि० सं० १५१६ के लगभग राव जोधाजी द्वारा जोधपुर के बसाए जाने पर, मंडोर के मारवाड़ की राजधानी होने के गौरव के साथ ही साथ यहाँ का यह मंदिर भी नष्ट हो गया प्रतीत होता है।

यहाँ के अन्य प्राचीन स्थानों में नाहडराव पड़िहार (प्रतिहार नाहड स्वामी) का स्थान है। यह ७५ गज चौकोर स्थान है और इसकी ऊँचाई १८ फुट है। इसके बीच में एक सकरी गली सी बनी है जिससे इसके दो भाग हो गए हैं। इसमें का एक भाग बंद है और दूसरा अनेक खंभोंवाला एक अँधेरा कमरा सा है। यह उपर्युक्त पड़िहार-नरेश का स्थान माना जाता है।

इसके उत्तर में एक दो-मंजिला जैन मंदिर है। इसके गर्भगृह के सामने एक सभामंडप भी बना है। मंदिर के प्रवेश-द्वार के ऊपरी पत्थर पर चार तीर्थंकरों की मूर्तियाँ, और अंदर की वेदी पर ८ तीर्थंकरों की मूर्तियाँ खुदी हैं। यह मंदिर अनुमान से बारहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। इसके पश्चिम में कुछ और भी छोटे छोटे स्थान बने हैं, परंतु वे विशेष महत्त्व के नहीं हैं।

इस समय जहाँ मंडोर नामक गाँव बसा है, वहाँ पर एक मसजिद भी है। उसमें सुलतान फीरोजशाह (द्वितीय) के समय का एक लेख लगा है। इससे इस मसजिद का वि० सं० १४५१ में, उक्त बादशाह के मंडोर पर चढ़ाई करने के समय बनाया जाना प्रतीत होता है।

मंडोर से लगभग आध मील पूर्व, रेलवे स्टेशन के पास पहाड़ पर खुदी हुई एक छोटी सी बावली है। इसे वि० सं० ७४२ में ब्राह्मण चणक के पुत्र माघु ने बनवाया था। इस लेख में किसी राजा का नाम नहीं है। इसी के पास पहाड़ में ८½ फुट लंबे और १½ फुट चौड़े स्थान में नौ मूर्तियाँ खुदी हैं। इनमें पहली गणेश की और अन्य आठ अष्ट-मातृकाओं की हैं। ये संभवतः उक्त बावली की प्रतिष्ठा के समय खुदवाई गई थीं। इसी के पास उक्त पहाड़ी में २½ फुट × २ फुट के घेरे में आसन मारे बैठी हुई सूर्य की मूर्ति बनी है। यह भी आठवीं शताब्दी की ही प्रतीत होती है।

कहते हैं कि मंडोर पर पहले नागवंशियों का राज्य था। इसी से यहाँ पर के एक कुंड को नागकुंड, एक बरसाती नाले को नागादरी (नदी) और यहाँ के पहाड़ी सिलसिले को नाग पर्वत या भोगिशैल कहते हैं। नागों के बाद यह परमार नरेशों की राजधानी बना। इनके पश्चात् यहाँ के शासक प्रतिहार (पड़िहार) हुए। इनका शासन वि० सं० १४५१ तक रहा। तदनंतर यहाँ पर राठोड़वंशी राव चूंडा का अधिकार हुआ। वि० सं० १५१६ तक यह उनकी और उनके वंशजों की

भी राजधानी रहा। इसके बाद इसी वर्ष राव चूंडा के पौत्र राव जोधा जी ने मारवाड़ की नई राजधानी जोधपुर की स्थापना की।

नागवंशियों और परमारों के समय के तो कोई लेख आदि यहाँ से नहीं मिले हैं, परंतु प्रतिहार (पड़िहार) बाउक के लेख का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। जोधपुर से २२ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित घटियाला नामक गाँव से मिले दो लेखों में भी प्रतिहार कक्कुक का मड्डोदर (मंडोर) में एक स्तंभ बनाना लिखा है।

मंडोर से एक लेख-खंड और मिला है, इससे भी यहाँ पर प्रतिहारों का राज्य रहना पाया जाता है।

इसी प्रकार यहाँ से नाडोल के चौहान सहजपाल का भी एक टूटा हुआ लेख मिला है। इसमें एक गाँव के दान का उल्लेख है। सहजपाल का समय वि० सं० १२०३ के निकट आता है।

इनके अतिरिक्त, मंडोर के जिस बगीचे का उल्लेख पहले किया जा चुका है उसमें जोधपुर के राठोड़ नरेश राव मालदेव (वि० सं० १५८८—१६१९) से लेकर महाराजा अजितसिंह (वि० सं० १७६३—१७८१) तक के देवल (स्मारक) भी दर्शनीय हैं। इसी प्रकार यहाँ पर दो दालान भी बने हुए हैं। इनमें से एक में देवियों की और अश्वारूढ़ वीरों की तथा दूसरे में देवताओं की बड़ी बड़ी मूर्तियाँ पहाड़ काटकर बनाई गई हैं। परंतु इस समय इन मूर्तियों पर चूने का पलस्तर चढ़ा हुआ है और रंग का काम भी किया हुआ है। इनमें वीरों की मूर्तियोंवाला दालान वि०सं० १७७१ में महाराजा अजितसिंह ने और देवताओंवाला उनके पुत्र महाराजा अभयसिंह (वि० सं० १७८१—१८०६) ने बनवाया था।

———

मिश्रबंधुविनोद की भूलें

[श्री अगरचंद नाहटा]

हिंदी साहित्य के इतिहास की सबसे अधिक सामग्री एक साथ संकलित करने का श्रेय मिश्रबंधुओं को है। काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज के विवरणों एवं अन्य प्राप्त साधनों का अध्ययन एवं आलोड़न करके उन्होंने 'मिश्रबंधुविनोद' नामक ग्रंथ चार भागों में प्रकाशित किया। हिंदी साहित्य के संबंध में सबसे अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये आज भी इसकी उपयोगिता एवं उपादेयता निर्विवाद है, क्योंकि हिंदी साहित्य के इतिहास के नाम से जितने ग्रंथ अद्यावधि प्रकाशित हुए हैं, सबका मुख्य आधार यही ग्रंथ है। हमारे अन्य इतिहास-ग्रंथों में केवल चुने हुए कवियों एवं ग्रंथों का ही निर्देश है किंतु इसमें, वे जितने भी प्राप्त हो सके, सब विस्तृत रूप में संगृहीत है; इसलिये इसका महत्त्व और भी अधिक है। यह कहना अनुचित न होगा कि मूल सामग्री के संबंध में हमारे पिछले इतिहासकारों ने स्वतंत्र शोध करने का श्रम बहुत कम उठाया और वे अन्य लेखकों पर ही अधिक निर्भर रहे। फलतः बहुत से ऐसे कवियों और ग्रंथों का उल्लेख उनमें आया ही नहीं जिनका होना परम आवश्यक था; और कितने ही ऐसे कवियों और ग्रंथों का उल्लेख कर दिया गया जिनका कोई महत्त्व नहीं। अर्थात् कई बड़े बड़े कवियों और महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का तो हमारे इतिहास-लेखकों को पता तक नहीं, और जिनके केवल दो-चार पद्य ही उपलब्ध हैं उनका निर्देश कर दिया गया है। यही नहीं, कई ऐतिहासिक अशुद्धियाँ और भद्दी भूलें जो 'शिवसिंहसरोज' और 'मिश्रबंधुविनोद' में पाई गईं, आजतक ज्यों की त्यों चली आ रही हैं; क्योंकि लेखकों ने ग्रंथों को न स्वयं देखा न उनके संबंध में कोई खोज-जाँच की। हिंदी साहित्य के लिये यह गौरवास्पद नहीं है।

हमारे साहित्य के इतिहास-ग्रंथों का प्रधान स्रोत मिश्रबंधुविनोद बहुत परिश्रम से संकलित किए जाने पर भी उसमें बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई हैं। यद्यपि इस ग्रंथ का अच्छा आदर हुआ और इसके तीन-तीन संस्करण भी प्रकाशित हुए, किंतु बाद के संस्करणों में भी इनका संशोधन नहीं किया गया। अतः बिना जाँच के

उसे आधार मानते चलने से भूलों और भ्रांतियों की परंपरा बढ़ती चलेगी। इस कारण आज इस ग्रंथ का भलीभाँति संशोधन आवश्यक है। यह कार्य जितना उत्तरदायित्वपूर्ण है उतना ही श्रमसाध्य भी।

यहाँ इन अशुद्धियों के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि इनके लिये संपूर्ण रूप से मिश्रबंधुओं को ही उत्तरदायी समझना उचित नहीं, क्योंकि उन्होंने मुख्य रूप से काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों के खोज-विवरणों एवं शिवसिंहसरोज का सहारा लिया है, और 'विनोद' में भूलें इन ग्रंथों से ही आई हैं। परंतु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि इन ग्रंथों का आधार लेने के पूर्व इनकी जाँच-पड़ताल कर लेना आवश्यक था।

हिंदी साहित्य के वीरगाथा-काल पर विचार करते हुए मैंने अपने 'वीर-गाथा काल की रचनाओं पर विचार'[१] शीर्षक लेखमें मिश्रबंधुविनोद में उल्लिखित उस काल के ग्रंथों के संबंध में चर्चा की थी और इस ग्रंथ को शताधिक भूलों के संबंध में स्वतंत्र लेख में विचार करने का संकेत किया था, किंतु समय और आव-श्यक साधन के अभाव में तद्विषयक लेख पूर्ण न हो सकने के कारण प्रस्तुत लेख में केवल साधारण रूप से दृष्टि में पड़नेवाली भूलों पर ही प्रकाश डाला जा रहा है। अभी यह कार्य अपूर्ण ही है और एक व्यक्ति से पूरा होने वाला भी नहीं, अतः भिन्न-भिन्न कवियों, ग्रंथों एवं धाराओं के संबंध में विवेचना उनके संबंध में विशेष ज्ञान रखनेवाले अधिकारी विद्वानों द्वारा ही होना सर्वथा उचित है।

'विनोद' की भूलों पर विचार करने के पूर्व यहाँ कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है, जिनपर आगामी संस्करण में संशोधन और परिवर्तन के समय ध्यान रखा जाना उपयोगी होगा।

(१) जब प्राचीन हिंदी ग्रंथों की खोज का कार्य आरंभ हुआ था उस समय गुजराती और राजस्थानी को भी इसी भाषा के अंतर्गत मान कर, अथवा तथाविध परीक्षण के अभाव के कारण, इन भाषाओं के ग्रंथों एवं कवियों का भी विवरण संगृहीत कर लिया गया था। प्रारंभिक कार्य की दृष्टि से यह अनुचित नहीं था, किंतु आज इन दोनों भाषाओं के साहित्य की स्वतंत्र खोज हो रही है। गुजराती साहित्य के तो स्वतंत्र इतिहास-ग्रंथ प्रकाशित भी हो चुके हैं और राजस्थानी साहित्य का इतिहास भी तैयार हो रहा है। अतः अब आवश्यक है कि भाषा की दृष्टि

१—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ४७ अंक ३-४

से छाँटकर 'विनोद' में केवल हिंदी भाषा के ही ग्रंथों का निर्देश किया जाय। यदि अन्य ग्रंथों को रखा भी जाय तो स्वतंत्र प्रकरण में।

(२) इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि कवियों की रचनाओं के उदाहरण, खोज में वे जिस काल की पाई जायँ उसी काल की भाषा के उदाहरणों के साथ दिए जायँ; केवल टिप्पणी में शुद्ध समय का संकेत कर देना पर्याप्त नहीं।[२]

(३) प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण लेना बहुत सहज काम नहीं है और साधारण लेखकों के लिये यह संभव नहीं कि वे सभी ग्रंथों का शुद्ध विवरण ले सकें। अतः उनपर निर्भर न रहकर यह आवश्यक है कि ग्रंथ-संग्रहालयों[३] में स्वयं जाकर ग्रंथों का निरीक्षण करके इतिहास-लेखक विद्वानों द्वारा पूर्व विवरण शुद्ध किए जायँ तथा नवीन प्राप्त ग्रंथों के विवरण भी जोड़े जायँ।

(४) 'विनोद' में कौन सी बात किस आधार पर लिखी गई, इसका उल्लेख नहीं किया गया है। इस बृहद् ग्रंथ को प्रामाणिक बनाने के लिये आधारभूत निर्देश पद पद पर दिए जाने चाहिएँ जिससे आवश्यकता पड़ने पर मूल आधार की जाँच की जा सके।

इस ग्रंथ के परिशिष्ट में केवल कवियों की अनुक्रमणिका दी गई है, परंतु उसके साथ ग्रंथों की अनुक्रमणिका का होना भी अत्यंत आवश्यक है।

(३) मिश्रबंधुविनोद के चतुर्थ भाग में आधुनिक लेखकों और कवियों का परिचय दिया गया है। कुछ अधिकारी विद्वानों के कथनानुसार इस भाग

२—यथा श्री राहुल सांकृत्यायन की "हिंदी काव्यधारा" में गोरखनाथ का समय ई० ८४५ मानकर उनके नाम से उपलब्ध रचनाओं का उदाहरण दिया गया है और टिप्पणी में लिखा है कि गोरखबानी की भाषा नवीं सदी नहीं, पंद्रहवीं-सोलहवीं की है। इसी प्रकार बारहवीं शताब्दी में पृथ्वीराजरासो के वर्तमान रूप के उदाहरण देकर टिप्पणी में उसे "सोलहवीं शताब्दी से पहले का नहीं" माना गया है।

३—देश में अब हस्तलिखित पुस्तकों के अनेक संग्रहालय हैं। काशी नागरीप्रचारिणी सभा में तो अच्छा संग्रह है ही, प्रयाग म्युनिसिपल म्युजियम में चौदह हजार पुस्तकें हैं। विद्याविभाग (काँकरौली), भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी तथा फार्बस् गुजराती सभा में भी बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ हैं। इनमें कई के सूचीपत्र भी प्रकाशित हैं। इन सबका तथा अन्य प्राप्य साधनों का समुचित उपयोग होना चाहिए।

में भी बहुत सी त्रुटियाँ हैं, परंतु आधुनिक काल के संबंध में लेखक का विशेष अध्ययन न होने के कारण प्रस्तुत लेख में केवल तीन ही भागों की त्रुटियों पर विचार किया गया है।

(६) वीरगाथा-काल की रचनाओं पर यद्यपि लेखक द्वारा पहले भी विचार किया जा चुका है[४] तथापि 'विनोद' की आलोचना के प्रसंग में जो नवीन ज्ञातव्य प्राप्त हुए, उनपर भी संक्षेप में यहाँ प्रकाश डाला गया है।

(७) अलग अलग एक-आध रचनाओं के संबंध में 'विनोद' की भूलों पर विचार पहले भी कई विद्वान् कर चुके हैं, परंतु यह संभव है कि लेखक को उन सबकी सूचना न होने के कारण उनका समुचित उल्लेख इस लेख में न हो सका हो।

अब भूलों का निर्देश और विवेचन 'विनोद' की पृष्ठ-संख्या सहित नीचे किया जाता है। इसमें भूलों की क्रम-संख्या के बाद ही पृष्ठ-संख्या दी गई है। उसके बाद के कोष्ठक में दी हुई संख्या कवि की नाम-संख्या है।

'विनोद' भाग १ (तृतीय संस्करण)

(१) पृष्ठ ९९, २००—हिंदी भाषा की उत्पत्ति का समय संवत् ७०० के लगभग माना गया है और पुंड या पुष्य[५] को जिसका समय संवत् ७७० दिया है, हिंदी का पहला कवि लिखा गया है। ये दोनों ही बातें शुद्ध नहीं हैं। लेखक के नम्र मतानुसार उस काल में अपभ्रंश भाषा ही सर्वसाधारण की सामान्य भाषा थी जिसका प्रचार प्रायः समस्त उत्तरी भारत में था। उसी भाषा से आधुनिक प्रांतीय भाषाओं का विकास हुआ है, अतः उसे ऐसी प्रत्येक प्रांतीय भाषा का प्राचीन रूप या मूल कहा जा सकता है। इस कारण जब से हिंदी का रूप अन्य भाषाओं से कुछ भिन्न रूप में विकसित देखा जाय, वही समय हिंदी की उत्पत्ति का ठीक समय माना जाना चाहिए। अतः यह आवश्यक है कि अपभ्रंश से विकसित प्रांतीय भाषाओं के प्राचीन रूपों का तुलनात्मक अध्ययन कर हिंदी का

४—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ४४, अंक ४

५—श्री राहुल सांकृत्यायन के "हिंदी काव्यधारा" ग्रंथ में हिंदी का प्रथम कवि सरहपा को तथा उसका समय वि० सं० ८१७ माना गया है। पुंड या पुष्य पहला कवि न सही, पर हिंदी का उत्पत्ति-काल इनके अनुसार भी लगभग वही आ बैठता है।

विशेषता, नवीनता तथा अन्य भाषाओं से उसकी विभिन्नता की परीक्षा करके उसकी उत्पत्ति के समय का निश्चय किया जाय।

पृष्ठ २०० पर लिखा है—"राजा मान सं० ७७० में अवंती में अच्छे संस्कृत काव्यवेत्ता थे। उनके यहाँ पुंड अथवा पुष्य बंदीजन ने दोहों में अलंकार ग्रंथ बनाया।"

पुंड या पुष्य नामक किसी हिंदी कवि की किसी भी रचना का पता आज तक नहीं चला है। ऐसी अवस्था में उसे हिंदी का पहला कवि तथा उसका समय सं० ७७० मानते चलना किसी प्रकार उचित नहीं। लेखक को जहाँ कहीं भी हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में पुष्य का नामोल्लेख मिला वहाँ वह अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदंत को ही संकेत करता प्रतीत हुआ, जिसका वास्तविक समय कवि के निर्देशानुसार ही शक सं० ८८७ (वि० १०२२) निश्चित है। श्री हीरालाल जैन ने भी अपने 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य'[६] शीर्षक लेख में यही अनुमान किया है।

(२) १०२, २००—"सं० ८१० के लगभग किसी ब्रह्मभाट कवि ने खुमानरासा नामक ग्रंथ महाराजा खुमान की प्रशंसा मे रचा।" परंतु इस ग्रंथ को जैन कवि दौलत विजय (दलपत) ने सं० १७३० और १७६० के मध्य बनाया, इस संबंध में विस्तृत रूप से विचार किया जा चुका है।[७] कुछ विद्वानों का यह मत है कि दलपत ने मूल ग्रंथ को ही परिवर्द्धित रूप दिया, पर इस कथन का भी कोई आधार नहीं है।

(३) १०२, १६६, २००—"भाग्यवश सं० १९७६ की खोज में भुवाल कवि-कृत भगवद्गीता नामक सं० १००० का रचा हुआ एक ग्रंथ मिला है जिसमें समय साफ दिया है।"

इसमें संवत् अशुद्ध पढ़ने के साथ साथ इसकी भाषा की अर्वाचीनता पर भी बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया, जो सतरहवीं शती की है। इसके विपरीत पृष्ठ २०० पर भुवाल की भगवद्गीता के संबंध में लिखा है—"इस ग्रंथ-रत्न से हिंदी भाषा के इतिहास की प्राचीनता निश्चयपूर्वक सिद्ध हुई है। कवि युक्तप्रांत का होने से

६—ना० प्र० प०, वर्ष ५०, अंक १-४ पृ०, ११४

७—"खुमान रासो का रचनाकाल और रचयिता"—वही, वर्ष ४४, अंक ४

भाषा में राजपूतानी आदि के शब्द नहीं हैं जिससे भाषा में कुछ नवीनता का संदेह उठना संभव था। किंतु ग्रंथ में समय साफ दिया है और ध्यानपूर्वक देखने से भाषा भी असंदिग्ध है।" परंतु स्वर्गीय इतिहासज्ञ डा० हीरालाल ने अपने "हस्त-लिखित हिंदी पुस्तकों की खोज" शीर्षक लेख में बहुत पहले यह भलीभाँति सिद्ध कर दिया है कि भुवाल की भगवद्गीता का समय सं० १००० नहीं, प्रत्युत सं० १७०० है।

(४) १०२, २०१—सं० ११३७ वाले कालिंजर के राजा नंद को भी कवि माना गया है और पृष्ठ २०१ पर उसका समय सं० १०७५ लिखा है।

यह भी उल्लेख है कि उसने सुलतान महमूद को हिंदी में छंद लिखकर भेजा था। इसी प्रकार पृष्ठ १०२-२०२ पर लिखा है कि ११६४ से ११९६ तक महाराष्ट्र में कल्याणी नगर में चालुक्यवंशी सोमेश्वर नामक राजा हुआ। यह सर्वज्ञ भूप कहलाता था। इसने हिंदी में भी कविता की। वहीं पर सं० ११६० के लगभग मसऊद और कुतुबअली दो मुसलमान कवियों का उल्लेख है, यद्यपि पृष्ठ २०२ पर मसऊद का समय ११८० के लगभग लिखा है।

उपर्युक्त तीनों उल्लेखों का कोई भी आधार आज तक ज्ञात नहीं है। नंद, सोमेश्वर, मसऊद और कुतुबअली में से किसी की रचना की एक भी पंक्ति उपलब्ध नहीं है। अतः बिना प्रमाण के ही इन्हें लेकर केवल संख्या बढ़ाते चलना उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, भविष्य में प्रमाण मिल जाने पर इनका उल्लेख करने में कोई बाधा नहीं।

(५) १०२, २०४—संवत् ११९१ में साईंदान चारण ने समतसार ग्रंथ बनाया।

इस ग्रंथ का नाम समंतसार नहीं, प्रत्युत संमत (संवत्) सार है और इसमें भड्डरी की भाँति वर्षा-संबंधी फलाफल का निर्देश है। इसकी रचना उन्नीसवीं शताब्दी की होने के विषय में मैंने अपना अनुमान पाँच वर्ष पूर्व प्रकट किया था[९], किंतु अब पूने के भंडारकर इंस्टीट्यूट से इसकी हस्तलिखित प्रति मँगवा कर इसके संबंध में अंतिम निर्णय भी कर लिया है। इसके द्वारा रचना-काल ११९१ नहीं, १८९१ निश्चित होता है। यहाँ उक्त प्रति से आवश्यक अंश उद्धृत किए जाते हैं,

---

८—ना० प्र० पत्रिका, भाग ७ अंक ३, पृ० २६७-६८

९—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४४ अंक ४।

जिनसे स्पष्ट होगा कि 'विनोद' में भूल इसके संवत् 'अष्टादस अकाणवै' के 'एकादस अकाणवै' पढ़े जाने के कारण हुई है। जिस खोज-विवरण अथवा हस्तलिखित प्रति के आधार पर ११६१ लिखा गया उसमें लिखने की अशुद्धि रह जाना असंभव नहीं, परंतु ग्रंथ की भाषा पर भी तो विचार करना चाहिए था।

संमतसार

श्री गणेशाय नमः। अथ संमतसार लिख्यते ॥

छप्पय—कनक क्रीट मणि जटत हेमश्रुति कुंडल सोभित।
बदन प्रभा सुभ सदन रदन रवि जनौ ओपित।
भुज विसाल सीसभाल भाल गल मोतिन विराजत।
मनोहर चाल मुराल लालपद नूपुर बाजित।
रिद्धिसिद्धि रसाल मम दीजिए सकल मनोरथ सिद्धिवर।
गौरीनंद हरिनंद बुध्य कर उदय बोध आनंद हर ॥१॥*

× × ×

मेघमाल सासत्र को अरु जोतस की तंत।
जिन देखत आगम कथै संमतसार ये ग्रंथ ॥६॥

× × ×

इति श्री संमतसार ग्रंथे मेघमाला अनुसारेण भाषा कवि साईदान विरचिते कार्तिकफल कथनो नाम प्रथमो उपदेस ॥१॥

× × ×

मेघमाल मथि के रच्यौ द्वादस मास विधान।
संमतसार इस ग्रंथ को कह्यो कवि साईदान ॥१२॥

---

* भाषा की तोड़-मरोड़ और छंदोभंग लिपिकार के कारण है। यथा इस छप्पय में, जिसका मूल रूप इस प्रकार रहा होगा—

कनक क्रीट मनिजटित हेम श्रुति कुंडल सोभित।
बदन प्रभा सुभ सदन रदन रवि जानो ओपित ॥
भुज विसाल ससि भाल माल गल मोतिन राजत।
मनहर चाल मराल लाल पद नूपुर बाजत ॥
रिधि सिधि रसाल मम दीजिए, सकल मनोरथ सिद्धिवर।
गौरी नंदन हरि नंद बुधि उदय बोध आनंद कर ॥

—सं०।

जनम आपपुर बाटको बसिबो सरसि सुथान।
गोत्र सिलगा जानिए गिरधर पिता बखान ॥१३॥
कविजन पिंडतईया (?) खिमा करो सब संत।
जथा सकति मोमति लघु भाख्यो भाषा ग्रंथ ॥१४॥
संमत अष्टादस अकाणावै मधुसूदन है मास।
नरहरि चौदसि वार बुध कीनौ ग्रंथ प्रकास ॥१५॥
संमतसार इस ग्रंथ कौ पढ़ै गुनै नर कोय।
अगम कथै सो ही पुरुष जगत महाजस होय ॥१६॥
संमतसार इन ग्रंथ को कियो कवि धनमान।
श्लोक गुन सत पंच नव ग्रंथाग्रंथ प्रमान ॥१७॥
इति श्री संमतसार ग्रंथ संपूर्णम् ॥

(पत्र ४३ पं० ९ अ० १८। भां० रि० इं० सं० $\frac{४४४}{१८९५-९८}$)

(६) १०२, २०४—"अकरम फैज ने १९०५ से १९६८ पर्यंत वर्नमाला नामक ग्रंथ रचा तथा वृत्तरत्नाकर का भाषानुवाद किया। यह कवि जयपुर-नरेश के यहाँ था।"

अभी तक उक्त ग्रंथों के अनुवाद तो देखने में नहीं आए, न उनके उल्लेख के आधार का ही वहाँ निर्देश है, परंतु पृ० २०४ पर कवि के आश्रयदाता जयपुर-नरेश महाराजा माधवसिंह का उल्लेख है, अतः इसका समय अठारहवीं शताब्दी स्वतः सिद्ध हो जाता है।

(७) पृ० १०३, २०७—कवि चंद और उनकी कृति पृथ्वीराजरासो के संबंध में अनेक बार विद्वानों द्वारा मत प्रकट किए जा चुके हैं,[10] अतः यहाँ चर्चा अनावश्यक है।

(८) १०४, २०६—"महोबे का जगनिक चंद का समकालीन था। कहते हैं

१०—इस संबंध में निम्नलिखित लेख भी द्रष्टव्य हैं—

१—पृथ्वीराज रासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—'राजस्थानी', वर्ष ३ अंक २

२—पृथ्वीराज रासो की एक महत्त्वपूर्ण प्रति—'विशालभारत', जून १९४१

३—पृथ्वीराज रासो का रचना-काल—वही, दिसंबर १९४१

कि उसने सबसे पहले आल्हा की रचना की जो अब तक ठौर ठौर ग्रामों में गाया जाता है। पर इस समय के आल्हा में जगनिक का शायद एक शब्द भी नहीं मिलता, केवल ढंग उसका है।"

ग्राम ग्राम में गाए जाने के कारण यह सर्वथा संभव है कि उसकी भाषा आदि में अत्यधिक परिवर्तन हो गया हो, परंतु उसमें मूल का कुछ भी न रह जाय, यह एक तो असंभव प्रतीत होता है, दूसरे यदि ऐसा हुआ ही हो तो फिर उसे जगनिक की रचना या 'उसी का ढंग' कहने का आधार क्या?

(९) १०४,२०६—केदार तथा बारदर वेणा, इन दोनों कवियों की किसी भी रचना का यहाँ निर्देश नहीं है, न उल्लेख का आधार ही बताया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भट्ट केदार के जयचंद्रप्रकाश के रचे जाने का उल्लेख दयालदास की ख्यात में बतलाया है, परंतु वहाँ उल्लेख मात्र ही है, ग्रंथ का पता नहीं है। अतः इसके संबंध में कुछ निर्णय नहीं किया जा सकता।

बारदर वेणा का तो अभी तक कहीं उल्लेख भी नहीं मिला, नाम भी गलत मालूम होता है।*

(१०) १०४,१६७,२१५—सं० १२०० में "मोहनलाल द्विज ने पत्तरिन नामक ग्रंथ रचा।"

इस भ्रांति का निरसन भी डा० हीरालाल ने पूर्वोल्लिखित सुवाल की रचना के प्रसंग में ही कर दिया है।[११] वास्तव में इसका समय १८०० है, 'ठारह' को 'बारह' पढ़ने से यह भूल हुई है।

(११) १०४,२१६—"कुमारपालचरित्र की रचना १३०० के लगभग हुई थी", यह उल्लेख सोमप्रभसूरि रचित कुमारपालप्रतिबोध के लिये ही जान पड़ता है, परंतु वह हिंदी में न होकर प्राकृत में है। अपभ्रंश के कुछ संदर्भ उसमें अवश्य पाए जाते हैं, पर उसका संबंध हिंदी से कम, गुजराती से अधिक है। इस ग्रंथ का रचनाकाल सं० १२४१ है और यह गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज से प्रकाशित भी है।

(१२) १०५, १६७, २२३—"संवत् १२१२ में नरपति नाल्ह ने बीसलदेव रासा बनाया।" पृ० २२३ पर इस संवत् के विषय में लिखा है—"नरपति नाल्ह ने

* बारदर 'बारहठ' तो नहीं है?—सं०।

११—ना० प्र० पत्रिका, भाग ७, अंक ३

इसका समय १२२० लिखा है पर जो तिथि उन्होंने बुधवार को ग्रंथ-निर्माण की लिखी है वह १२२० शाके में पड़ती है।" परंतु नरपति नाल्ह ने १२२० कहाँ लिखा है यह अज्ञात है। कई प्रतियों में १२१२ या १२७२ अवश्य मिलता है जिनमें तिथि-गणना के हिसाब से श्री गौरीशंकर ओझा ने पिछले को ही ठीक माना है।"

इस रचना की सं० १६६९ से पहले की कोई प्रति प्राप्त नहीं है। भाषा की दृष्टि से यह सोलहवीं शताब्दी की जान पड़ती है।"

१३—१०५,२२५—"१३५५ के लगभग नल्लसिंह ने विजयपाल रासा रचा।" विजयपाल रासा की रचना सं० १३५५ में मानने का कोई आधार नहीं है, और न इसकी पूरी प्रति ही अभी तक उपलब्ध हुई है। मुंशी देवीप्रसाद की कवि-रत्न-माला (भाग १, पृ० २२) तथा "विशाल भारत" (अक्टूबर, १९४४) में "महाराज विजयपाल और उनका रायसा" शीर्षक लेख में प्रकाशित इसकी भाषा के उद्धरणों से इसका समय सत्तरहवीं शती के बाद का ही निश्चित होता है।

१४—१०५, २२५ (१८)—"संवत् १३५७ में शार्ङ्गधर कवि ने हमीरकाव्य, हमीररासा और शार्ङ्गधरपद्धति बनाई।"

जहाँ तक ज्ञान है शार्ङ्गधर ने हिंदी में कोई ग्रंथ नहीं रचा। श्रीरामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि इनके कुछ पद्य पिंगलसूत्र में मिले हैं, परंतु पिंगलसूत्र में के पद्य शार्ङ्गधर के नहीं, जज्जल के हैं जो श्री राहुल सांकृत्यायन की "हिंदी काव्यधारा" में प्रकाशित हुए हैं। ये पद्य हम्मीररासो के हैं, यह केवल अनुमान है। ये फुटकर प्रासंगिक पद्य के रूप में ही पाए जाते हैं।

१५—१०५, २२६ (१९)—"इसी समय अमीर खुसरो ने तत्कालीन प्रचलित हिंदी में कविता की और खड़ी बोली में भी। खड़ी बोली के प्रथम कवि खुसरो ही कहे जा सकते हैं।" खुसरो के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं की भाषा उस काल

१२—बीसलदेव रासो का निर्णय काल, ना० प्र० प०, भाग ४५ अंक २

१३—द्रष्टव्य—(क) बीसलदेव रासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ

—"राजस्थानी" वर्ष ३, अंक ३

(ख) बीसलदेव रासो के संबंध में कुछ नवीन ज्ञातव्य

—"साहित्य संदेश", भाग ८, अंक १

की दृष्टि से नितांत संदिग्ध है; अतः जब तक कोई प्रमाणिक प्राचीन प्रति न प्राप्त हो, तब तक उक्त कथन मान्य नहीं हो सकता।

१६—१०५, २२७—"मुल्ला दाऊद ने १३८५ में नूरकचंदा की प्रेम कहानी लिखी।" मेरे मित्र श्री रावतमल सारस्वत को इसकी जो प्रति मिली है उसके अनुसार इसका नाम 'चंदायन' तथा इसका रचना-काल हि० ७८१ है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"बरस सात सै होइ एक्यासी। तिहि याह कविसर सेउ भासी॥
साहि पीरोज ढिली सुलताना। जौना साहि जीत बखाना॥
दल्यौ नयरु बसे नवरंगा। उपरि कोट तले बहे गंगा॥

हि० ७८१ का वि० वर्ष १४३१ होता है; यही उसका रचना-काल होगा, १३८५ नहीं। फीरोजशाह का समय भी पंद्रहवीं शती है।

१७—१७७, २४६ (४५)—"१५३७ में चरणदास ने ज्ञानस्वरोदय ग्रंथ बनाया।" यह भूल शिवसिंहसरोज के अनुकरण के कारण हुई है। अन्यथा 'विनोद' के ही दूसरे भाग में पृ० ६०१ पर चरणदास का जन्म १७६० और मृत्यु १८३८ में लिखित है।[१४] ज्ञानस्वरोदय में इसका समय १८१७ बतलाया गया है।

१८—११६, ३६५—"लालचंद (१६४३) ने हिंदी में पहला इतिहास-ग्रंथ बनाया।" इसमें ग्रंथ और उसके रचयिता दोनों का नाम शुद्ध नहीं है। 'विनोद' के ही पृष्ठ ३६५ पर लालदास रचित इतिहाससार (१६४३) का उल्लेख है। यथार्थ में यह महाभारत का पद्यानुवाद है और कर्ता लालदास ही हैं।

१९—११८, १६१, ४०७—"जटमल खड़ी बोली गद्य का द्वितीय लेखक है। इसने गोरा-बादल की कथा नामक ग्रंथ में उसी का प्राधान्य रखा है।" जटमल की 'गोरा बादल की कथा' वस्तुतः गद्य में नहीं, पद्य में है और उसका रचना-काल सं० १६८० नहीं, १६८६ है।[१५]

१४—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (नागरीप्रचारिणी सभा; पृ० ४३) में भी यही उल्लेख है।

१५—द्रष्टव्य—

(क) कविवर जटमल नाहर और उनके ग्रंथ ("हिंदुस्तानी", भाग ८, अंक २)

(ख) जटमल रचित गोराबादल कथा (ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, अंक ४)

(ग) छंद भाँग ("विशाल भारत", वर्ष १९, अंक ६)

२०—१३०—"भूधरदास एक प्रसिद्ध जैन कवि थे। इन्होंने साधारण ग्रंथों के अतिरिक्त पुष्पपुराण नामक एक जैन पुराण की भी रचना की।" इसमें 'पुष्पपुराण' नाम अशुद्ध है, 'पार्श्वपुराण' होना चाहिए जिसकी रचना सं० १७८९ में होने का उल्लेख 'विनोद' के द्वितीय भाग में पृ० ५५८ पर हुआ है।

२१—२१५ (२/१) में अनन्यदास का कविता-काल १२७५ के पूर्व लिखा है परंतु पृ० २०७ पर इनके अक्षर अनन्य होने का उल्लेख है जिनका समय हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के विवरण के अनुसार सं० १७७० से १७५४ तक है। अतः यहाँ '१२७५ के पूर्व' कविता-काल लिखना निरर्थक है।

२२—२१६ (१/३)—कवि का नाम उसकी कृति में धम्म (धर्म) ही है, धर्मसूरि नहीं।[16]

२३—पृ० २३० (२/३)—सिद्धसूरि रचित शिवदत्तरास १४२३ का बतलाया गया है किंतु इसकी रचना १६२३ में हुई। इसका अपर नाम 'प्रापतीयानो रास' भी है।[17]

(२/१)—कलिकाल रास का समय १४२६ नहीं १४८६ है।[18]

२४—२६५ (५/३)—अजवेश भट्ट को सं० १५७० में जोधपुर के राजा वीरभानु का आश्रित लिखा गया है, परंतु जोधपुर में इस नाम के कोई राजा हुए ही नहीं। अतः यह अशुद्ध है। पृ० ३४१ पर वीरभानुसिंह को रीवाँ-नरेश लिखा है और रचना-काल १६०० दिया है। ह० हिं० पु० विवरण के अनुसार एक ही अजवेश रीवाँ-नरेश जयसिंह तथा विश्वनाथसिंह के आश्रित, सं० १८६२ के लगभग हुए। 'विनोद' में इनके ग्रंथ का नाम नहीं दिया है, पर विवरण में 'बघेलवंश वर्णन' तथा 'बिहारी-सतसई की टीका' का निर्देश है। सं० ६६ में फिर इन्हीं का निर्देश है।

१६—इस काल के अन्य जैन कवियों के लिये द्रष्टव्य—

'वीरगाथा काल का जैन साहित्य' शीर्षक लेख (अगरचंद नाहटा; ना० प्र० प०, भाग ४०, अंक १-२)

१७—जैन गुर्जर कविओ, भाग ३ पृ०, ६०८-८०

१८—वही, पृ० ४२१

२५—३१६ (९२)—ढोलामारू की चौपाई के कर्ता का नाम हरराज अशुद्ध है। इसका रचयिता जैन कवि कुशललाभ है। हरराज के लिये तो इसकी रचना हुई थी। हरराज को यादवराज का आश्रित लिखा है; किंतु वास्तव में जैसलमेर के राजकुमार हरराज ही, जिसके लिये इसकी रचना हुई, यादवराज (यदुवंशी) थे।

२६—३१७(७६)—अकबरी दरबारवाले टोडरमल की रचना का जो उद्धरण दिया गया है वह वास्तव में उनका नहीं, जैन विद्वान् टोडरमल (उन्नीसवीं शती–पृ० ७६६ नं० ६०६) की आत्मानुशासन टीका के मंगलाचरण का पद्य है।

२७—३२८ (८२)—पृथ्वीराज रचित कृष्णरुक्मिणीबेलि और कृष्णरुक्मिणी-चरित्र को दो भिन्न रचनाएँ माना गया है, वास्तव में दोनों एक ही हैं। रचना-काल भी १६१७ नहीं, १६३८ है।

२८—३३६ (९१)—मुनि आनंद (सं० १५६२) रचित 'विक्रमचापर चरित्र' का उल्लेख है, परंतु ग्रंथ के नाम में 'चापर' की जगह 'खापर' चाहिए। इसे राजशील ने १५६३ में बनाया। मुनि आनंद का इसी संवत का '२४ जिनस्तवन' अवश्य उपलब्ध है।

२९—३४० (६३)—सहजसुंदर रचित 'रत्नसागर' ग्रंथ-नाम अशुद्ध है, वह 'रत्नसार' होना चाहिए।

३०—३४२ (१०६)—हरिराय (वल्लभी) के ग्रंथों में ढोलामारू की वार्ता का भी नाम है, पर जैसा पहले कहा जा चुका है, यह कुशललाभ की रचना है।

३१—३४५ (१२०)—रायमल पांडे पृ० ३४५ नं० ११४ वाले ही हैं, भिन्न नहीं। केवल भ्रम से ही दो बार निर्देश हुआ है। इस प्रकार की भूलें अनेक हैं।

३२—३४६ (१२६)—रामविनोद के कर्ता का नाम रामचंद्र मिश्र और रचना-काल १६२० बताया गया है, जो अशुद्ध है। स्थान का नाम भी 'भेहरा' के स्थान पर 'सेहरा' लिखा है। यथार्थ में रामविनोद के कर्ता रामचंद्र जैन यति थे। ग्रंथ का रचना काल १७२० है।''

३३—३७३ (१८६) बनारसीदास की मोक्षपदी, ध्रुववंदना, कल्याणमंदिर भाषा, वेदनिर्णय पंचाशिका और मार्गनाविद्या (विधान) का बनारसीविलास

१९–द्रष्ट०–ना० प्र० पत्रिका, भाग ८ अंक ४ पृ० ४६८

से भिन्न रूप में उल्लेख है, परंतु वास्तव में ये सब बनारसीविलास के ही अंतर्गत हैं।

३४ – ३९० (१९४)—नारायण भट्ट का जन्म-काल १६२० नहीं, १५८८ वैशाख सुदी १४ है।[१०] विवरण में 'रामलीला' की जगह 'रासलीला' चाहिए।

३५—४०८ (२६३)—गुणसूरि का पूरा नाम गुणसागर सूरि है और उनका ग्रंथ 'ढोलासागर' नहीं 'ढालसागर' है।

जैन ग्रंथकारों तथा ग्रंथों के संबंध में इतनी अधिक अशुद्धियों के कारण का अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ कि दो चार ग्रंथों का उल्लेख तो खोज-विवरणों के आधार पर किया गया है और उनमें अशुद्धियाँ विवरण-लेखकों की भूल से हुई हैं, परंतु शेष सब का आधार श्रीपूर्णचंद्र नाहर का "प्राचीन जैन हिंदी साहित्य" तथा श्री नाथूराम प्रेमी का "हिंदी जैन साहित्य का इतिहास" हैं। इन निबंधों के लिखे जाने के समय जैन साहित्य का भलीभाँति अन्वेषण नहीं हुआ था, पर उसके बाद श्री मोहनलाल देसाई ने महत्वपूर्ण खोजें कर उनका परिणाम अपने 'जैन गुर्जर कविओ' (३ भाग) तथा 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' ग्रंथों में प्रस्तुत किया है।

भाग २ (द्वि० सं०)

३६—४०८ (२६१)—"लूणसागर जैनी ने सं० १६८९ में अंजना सुरी संवाद रचा"। वस्तुतः कर्ता का पुण्यसागर और रचना का 'अंजना सुंदरी रास' है।

३७—४१६ (२९८)—केशवदास चारण के ग्रंथ का विवेकवार्ता नहीं विवेकसार निसाणी है।

३८—४२० (३०१) – हेमराज के ग्रंथों का रचना-काल १६८४ लिखा है, किंतु पंचास्तिकाय वचनिका सं० १७०९ में तथा नयचक्र वचनिका सं० १७२८ में लिखी गई। इसी हेमराज का नं० ३९६ में पुनः निर्देश है।

३९—४२४ (३२०)—सादेवदिच्छ सावलङ्गा का दूहा का कर्ता सदलवछ नहीं, केशव कीर्तिवर्धन है; और ग्रंथ का नाम भी 'सदयवछ सावलिंगा रास' है।

४०—४२७ (३४१)—रघुराम के ग्रंथों का रचना-काल सं० १७०१ अशुद्ध है। सभासार की प्रति में उसका रचना-काल १७५७ कवि ने स्वयं दिया है।

१०—"ब्रज भारती", वर्ष ४ अंक ४,५,६

४१—४५६ (३७६)—राव रतन राठोर को कवि के नाम में लिखा है, परंतु वास्तव में ग्रंथ उनके संबंध में बना है। कवि का नाम कुंभकरन सांदु है।

४२—४५७ (३७७)—हरीराय कृत छंदरत्नावली आदि का समय १७०९ लिखा है, पर छंदरत्नावली में ही सं० १७९५ स्पष्ट लिखा हुआ है।

४३—४५७ (३९८)—हेमराज कवि नं० ३०१ में आ चुका है तथा ग्रंथ सं० ६-७, सितपट और चौरासी बोल, एक ग्रंथ का नाम है।

४४—४६४ (४१७)—जोधपुर के अमरसिंह को चंदकृत रासो की खोज और संकलन करानेवाला लिखा है, पर ये अमरसिंह जोधपुर के नहीं, उदयपुर के राना थे।

४५—४६६ (४२३)—रामचंद्र को साको बनारसवाले लिखना अशुद्ध है। ये जैन यति थे। इनका ग्रंथ, जैसा ऊपर आ चुका है (३२), रायविनोद नहीं, रामविनोद है। रामचंद्र पद्मराग के नहीं, पद्मरंग के शिष्य थे। बनारस यहाँ स्थान का नाम नहीं, प्रत्युत बाणारस वाचक जैन यतियों का पद-विशेष है।

४६—४९१ (४३७)—सुरसुंदरी प्रबंध के कर्ता विजयहर्ष नहीं, उनके शिष्य धर्मवर्धन (धर्मसी) थे।

४७—४९९ (४४९)—धना चौपाई के कर्ता जिनचंद्रसूरि नहीं, उनके आज्ञानुवर्ती कमलहर्ष थे।

४८—५०० (४५४)—मौनी जी नं० ४५२ वाले जनअनाथ ही हैं। विचारमाला टीका नहीं, प्रत्युत मूल ही है जो गद्य में है और जिसकी रचना १७२६ में हुई।

४९—५०५ (४०४)—भगवतीदास ने ६७ स्फुट छंद नहीं, प्रत्युत ६७ ग्रंथ बनाए हैं।

५०—५११ (५०३)—जिनहर्ष सूरि नं० ४९८ वाले जिनहर्ष ही हैं। ये सूरि नहीं थे।

५१—५१३ (५१३)—'हरखचंद साधु' नाम अशुद्ध है। ये ४९८ तथा ५०३ वाले जिनहर्ष ही हैं।

५२—५१७ (५१३)—सौभाग्यविजय आगरा-निवासी नहीं, भ्रमणशील

जैन साधु थे। जैन साधु कहीं के 'वासी' नहीं होते। भ्रमण में वे आगरे गए होंगे। तीर्थमाला में जैन तीर्थों का विवरण आगरे से प्रारंभ किया गया है।

५३-५२२ (५३३)—केवलराम रचित वाणी विलास का रचना-काल १७५६ के स्थान पर १८७५ होना चाहिए। [२१]

५४-५३२ (५४६)- आलम के संबंध में द्रष्टव्य-'आलम और उनका समय' शीर्षक लेख'। [२२]

५५—५५५ (५५५)—सूरत मिश्र की अमर-चंद्रिका जोधपुर के महाराजा अमरसिंह के नाम से नहीं, ओसवाल अमरचंद के लिये लिखी गई थी।

५६—६०० (६५२)—कृष्ण कवि की बिहारी-सतसई टीका का समय १७८५ के लगभग लिखा गया है, किंतु दिए गए उद्धरण में सं० १७८२ कार्तिक बदी १४ स्पष्ट दिया है।

५७—६२१ (७०४)—करणीदान के ग्रंथ का नाम बिरदसीणसागर लिखा है, उसका यथार्थ नाम 'बिड़द सिणगार' है।

५८—६६० (७६१)—वीरभानु को राजरूपक का कर्ता बताया गया है, पर इसके रचयिता का नाम रतनू चारण वीरभाण है। यह ग्रंथ काशी नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुका है।

५९—७६३ (८६५)--करनीदान के ग्रंथ का नाम 'पान वीरमदेव की बात' मे 'पान' शब्द अशुद्ध है, 'पन्ना' होना चाहिए।* विवरण में रचयिता को स्त्री भ्रम से लिखा है, करनीदान तो पुरुष नाम है। ग्रंथ वीरमदे के संबंध में होने से उसी के नाम के कारण यह भ्रम हुआ है।

६०— ७७२ (१३१९)—मानसिंह के संबंध में द्रष्टव्य—'बिहारी सतसई के के टीकाकार मानसिंह कवि कौन थे' शीर्षक लेख।[२३]

६१—७७६ (१५९०)—लालचंद के ग्रंथ का नाम वारांगना-चरित्र लिखा है, वरांग-चरित्र होना चाहिए।

२१—फोर्बस सभा हस्तलिखित ग्रंथ-नामावली, भाग १, पृ० १२

२२—ना० प्र० पत्रिका, भाग ५०, अंक १-२

* अनेक हस्तलिखित ग्रंथों में 'पन्ना' को ही 'पान' या 'पाना' लिखा हुआ मिलता है।
—सं०।

२३—ना०प्र०प०, वर्ष ४६, अंक १

६२—८३२ (१०६१/२)—क्षमाकल्याण रचित जीवविचारवृत्ति हिंदी में नहीं, संस्कृत में है।

६३—८३७ (१०९१/२)—कुशलचंद्रमणि का कुशलचंद्रगणि होना चाहिए। संभवतः यह अशुद्धि मुद्रण दोष-जन्य है। इस प्रकार की अनेक भूलें हैं।

भाग ३ (वि० १९८५)

६४—६५१ (१३२२)—कलस कवि का नाम नं० ५३/५ में आ चुका है और और यहाँ भी समय सं० १७५९ लिखा है। तब इसे अज्ञातकालिक प्रकरण में रखने की क्या आवश्यकता हुई ?

६५—६६८ (१४१३)—गोपालसिंह कवि का नाम अपूर्ण हैं। तुलसी शब्दार्थ प्रकाश के कर्ता जयगोपालसिंह का पहले दो बार उल्लेख हो चुका है।

६६—६७७ (१४८६)—'दाक' नाम अशुद्ध है. 'डक्क' या 'डाक' होना चाहिए।

६७—६७६ (१५१४)—नकुल मूल संस्कृत ग्रंथ का कर्ता है।

६८—९८४ (१५४७)—ग्रंथ का नाम'सिसमोध' अशुद्ध है, 'शिशुबोध'होगा।*

६९—६६३ (१६१६)—भीखजन की बावनी की श्लोक-संख्या ४०० संभव नहीं है, ५२ से ही कुछ न्यूनाधिक होगा।

७०—१०११ (१७६६)—ग्रंथकार हरराज नहीं, कुशललाभ है (२५, ३०)। ढोलामारू बानी और चौपही दो पृथक् ग्रंथ नहीं, प्रत्युत एक ही हैं। शुद्ध नाम 'ढोलामारू की चौपाई' है। रचना-काल १६१७ है। इस ग्रंथ का निर्देश नं० ७३/२ में भी हो चुका है।

७१—१०१२ (१७७८)—हेमकवि चारण नहीं, जैन यति थे। इनका समय उन्नीसवीं शताब्दी है।

७२—११४० (२०२३)—अजबेश का उल्लेख का पहले भी १८३१/१ में हो चुका है। वहाँ कविता-काल १८६२ दिया है किंतु यहाँ १६१०; पता नहीं कौन सा ठीक है।

७३—११५२ (३११/१)—नाथूलाल दोसी के ग्रंथों के नाम के अनंतर 'जैन संप्रदाय की स्त्री थी' लिखने का क्या तात्पर्य ? क्या नाथूलाल दोसी स्त्री का नाम है ?

---

* हस्तलिखित पुस्तक में 'शिशुबोध' को 'सिसमोध' लिखा होना संभव है।—सं०

प्रागैतिहासिक लाट देश

(श्री कृष्णटोपणलाल शर्मा जेतली)

सिंधु प्रांत में लाड़काना नाम का एक प्रसिद्ध नगर है। सिंधी भाषा में इसका उच्चारण 'लाड़काणो' है। सिंधु में इसके विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। जैसे—

१—"सूँह त शिकारपुरि'जी लोद'त लाड़काणे जी।" अर्थात् यदि स्त्री-सौंदर्य देखना हो तो शिकारपुर में जाना चाहिए और लोद (लटक-मटक, हाव-भाव) देखने की इच्छा हो तो लाड़काने जाना पड़ेगा।

२—"हुजेई गंढि में नाणो त घुमु लाड़काणो"। अर्थात् गाँठ मे पैसा हो तो फिर लाड़काने की सैर करनी चाहिए। इत्यादि।

हमारे सिंधी के उस्ताद स्वर्गीय प्रोफेसर जेठमल परशुराम गुलराजाणी के कथनानुसार किसी समय में लाड़काने की स्त्रियाँ अपने प्राकृतिक सौंदर्य, शृंगार तथा हाव-भाव आदि के लिये बहुत प्रसिद्ध थीं, इसी कारण उनके विषय में उपर्युक्त कहावतें चल पड़ीं।

लाड़काना नाम तथा इस नामवाले उक्त नगर के विषय में इस प्रकार की बातें सुनने और विचार करने से लेखक के मन में समय समय पर अनेक कल्पनाएं उठती रहीं और यह धारणा दृढ़ होती गई कि हो न हो, यह लाड़काना ही वास्तविक लाट देश है। परंतु पुरातत्त्व संबंधी ग्रंथों में खोज करने पर एतद्विषयक कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिला। हाँ, अनुसंधान के लिये सूत्र अवश्य मिल गया।

१—शिकारपुर लाड़काना के उत्तर में प्रसिद्ध नगर है। किसी समय लाड़काना प्रदेश का नाम चांडिको था, तब शिकारपुर इसके अंतर्गत था। सिंधी में चांडिको का अर्थ होगा 'चंद्रमा का' (चंडु = चंद्र + इको, तद्धित प्रत्यय)। संभव है चंद्र वंश से इसका संबंध हो।

२—सिंधी भाषा में ग, ज, ड, और ब का अपने स्थान के अतिरिक्त कंठ और उरःस्थान से भी उच्चारण होता है; उन ध्वनियों को सूचित करने के लिये उक्त वर्णों के नीचे आड़ी रेखा खींच दी जाती है।

'लाड़काणो' शब्द का रहस्य

सिंधु के भूगोलवेत्ताओं का कहना है कि पुराकाल में यहाँ लाड़क[3] नाम की एक जाति रहती थी जिसके कारण इस प्रदेश का नाम 'लाड़काणो' पड़ा।

सिंधी में 'अणो' प्रत्यय संबंधबोधक है। जैसे अबाणो = दादों-परदादों का; घराणो = अच्छे घर का (उच्च कुल का); इत्यादि। इस प्रकार 'लाड़काणो' का अर्थ होगा (लाड़क+अणो)—'लाड़क जाति का'। लाड़क शब्द लड़ (= विलासे) धातु में स्वार्थे क प्रत्यय जोड़ने से बनता है। किसी युग में यहाँ के निवासी हाव-भाव में प्रवीण एवं सौंदर्य के उपासक रहे होंगे, इसीलिये उनका नाम लाड़क पड़ गया होगा। इस शब्द की उक्त व्युत्पत्ति से भी यही सूचित होता है और उपर्युक्त सिंधी कहावतों की सार्थकता भी इसी बात में है।

यह लाड़क जाति किस काल में यहाँ निवास करती थी, इस विषय का इतिहास में कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसलिये मेरा अनुमान है कि यह कोई प्रागैतिहासिक जाति होगी। प्रसिद्ध 'मुअनि जो दड़ो' (मोहें जो दड़ो) स्थान लाड़काने के पास ही का एक खँडहर है। उसमें से प्राप्त सामग्री से यह सिद्ध है कि वह अपने युग में कितना उन्नत और विलासादि की सामग्री से संपन्न था तथा यहाँ के निवासी कितने सुखी एवं ललितकला प्रेमी थे। बहुत संभव है, इसी कारण से यहाँ के निवासियों को ही 'लाड़क' संज्ञा मिली हो।

महाभारत में जहाँ यौधेय, क्षुद्रक, उशीनर, केकय, मद्रक, द्रविड़ आदि सिंधु-पंजाब तथा उसकी सीमावर्ती जातियों का वर्णन आया है वहाँ 'ललित्थ' जाति का भी निर्देश किया गया है।[4] हमारे विचार से लाड़क जाति के साथ इसका संबंध होना चाहिए। कारण, 'लड़्' और 'लल्' धातुएँ एक ही अर्थ की बोधक हैं।

३—हो कोम लाड़कनि जो हिति कदीमु आयो।
पियो पोइ नालु हिन ते लाड़क तों लाड़काणो।।
—(सिंधी भाषा में) 'ऐटकस् ज्योग्रफी अइ तवारीख, ज़िला लाड़काणो'।

४—यौधेयाश्च ललित्थाश्च क्षुद्रकाश्चाप्युशीनराः।—महाभारत, कर्णपर्व, २।५०

लाट और लाड़काना

संस्कृत साहित्य में लाटानुप्रास प्रसिद्ध है। लाट जनों को प्रिय होने के कारण इसका यह नाम पड़ा।[५] 'लाट' शब्द का अर्थ है सुरसिक। ये लोग गद्य-पद्य भी बड़ी लटक-मटक के साथ पढ़ते हैं। उस समय सहृदय जनों को मोहनेवाली इनकी मुख-मुद्रा भी अपूर्व सौंदर्य को धारण कर लेती है।[६] यहाँ की स्त्रियाँ जब नहा-धोकर शरीर में इत्र आदि मलकर कलापूर्ण ढंग से केशपाशों को बाँधकर एक दूसरे के सम्मुख आती हैं तब इनकी परस्पर में स्पर्धा होने लगती है।[७]

ये सब ऐसे प्रमाण हैं जिनकी सहायता से उस प्रदेश की पहचान हो सकती है। परंतु वर्त्तमान साहित्य में जो गुजरात के भड़ोंच प्रदेश को लाटदेश होने की प्रसिद्धि प्राप्त है[८], उस विषय के प्रमाणों की सार्थकता मुझे वहाँ (भड़ोंच में) देखने को नहीं मिली। पाकिस्तान होने के बाद आबूरोड से मुंबई तक कई बार आते-जाते मैंने लाटों की उपर्युक्त विशेषता को भी लक्ष में रखा था, परतु संतोष-जनक उत्तर नहीं मिला। वह रसना-माधुर्य, वह भाषण में लटक-मटक, वह हाव-भाव इनमें कहाँ है जो अब भी (पाकिस्तान होने से पूर्व) इमें लाड़काना प्रदेश मे मिलता है? इस विषय को स्पष्ट करने के लिये नीचे सिंधी भाषा का कुछ वर्णन किया जाता है।

सिंधी भाषा

उत्तर और दक्षिण भेद से सिंधु के मुख्य दो भाग हैं। सिंधु नद के पूर्व तट पर नवाबशाह जिला के कंडियारो तालुका से तथा पश्चिम तट पर दादू जिला के सेहवान तालुका से जेकबाबाद के कश्मोर नगर तक का भूभाग उत्तर-सिंधु कहा जाता है, एवं कंडियारो तथा सेहवान से दक्षिण में कराची तक (पहले

५—"लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः"—साहित्यदर्पण, परि० १०

६—"पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ॥—काव्यमीमांसा, अ० ७

७—ण्हाओ सित्त-विलित्ते कयसीमंते सोहियं गत्ते।
अम्हं काउं अखिरे अइपेच्छइ लाड़े ॥ —कुवलयमाला, ८१५ (५।६)

८—के० एम० मुंशीकृत द ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जर देश, भाग १, पृष्ठ ३२

कच्छ प्रदेश तक, जो अब काठियावाड़ के साथ मिला हुआ है) दक्षिण-सिंधु कहा जाता है। वैसे तो संपूर्ण सिंधु देश की भाषा सिंधी कहलाती है, जो स्वरांत है (अर्थात् इस भाषा में अंतिम स्वर का उच्चारण स्पष्ट रूप से किया जाता है; जैसे रामु, किशिनु, गोविंदु, मोहनु, अचु, वञु, वधु, खाउ, वेहु आदि; भरत मुनि कहते हैं कि सिंधी भाषा उकारबहुला है[९]), परंतु अंतिम स्वर का स्पष्ट और विवृत उच्चारण जैसा उत्तर-सिंधु में होता है, वैसा दक्षिण-सिंधु में नहीं।[१०] यहाँ वह स्वर संवृत हो जाता है। यह बात नीचे की तालिका से स्पष्ट होगी—

उत्तर-सिंधु	दक्षिण-सिंधु[११]	
	मध्य-सिंधु	लाड़
भाऊ	भाउ	भा (= भाई)
पीऊ	पीउ	पी (= पिता)
चवेंसि	चवेंसि	चौंसि (= उसको कहो)
लोहु	लोह् उ	लो (= लोहा)

९—"हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तत्र भाषां प्रयोजयेत् ॥"—भारत नाट्यशास्त्र, अ० १७, श्लोक ६

१०—The northern or Siraiki (Sireli) dialect has remained far more original and has preserved the purity of pronunciation with more tenaciousness than the southern one.

—ट्रंप-कृत 'सिंधी ग्रामर', भूमिका पृ० २

Siraiki (Siroli) Sindhi differs from the standard Sindhi having a more clearly articulated pronunciation and a slightly different vocabulary.

—लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया,
जिल्द ८, भाग १, पृ० १४०

११—दक्षिण-सिंधु में, नवाब ताल्लुका के अतिरिक्त हैदराबाद जिला और कंडियारो तक का नवाबशाह जिला मध्य-सिंधु कहलाता है, और शेष भाग लाड़ नाम से प्रसिद्ध है।

एक-दो वाक्यों के भी उदाहरण लीजिए।

लाड़काणो और शिकारपुर की माता रोते हुए बच्चे को गोदी में लेकर विह्वल स्वर में कहेगी—

"लाल! बुहिजा मिठिरा! छाजे करे पियो रुहँ···?"; तो दक्षिण सिंधु की माता कहेगी—

"पुट! छो थो रुई ?"(=पुत्र! क्यों रोते हो?)। लाड़काना प्रदेश की बहिन भाई से कहेगी—

"भायरा! दिसण में वि कान पियो अचें, आउ; हितिड़े वेहुनी·· ई"(=भाई! देखने में भी नहीं आते हो, आओ; यहाँ बैठो)।

इस प्रकार यहाँ प्रत्येक स्वर का स्पष्ट उच्चारण और स्वर-माधुर्य एवं बोलने में उत्कंठा इत्यादि विशेषताएँ देखते ही बनती हैं। सामान्य भाषण के अवसर पर भी यहाँ के लोगों में भायरा! लाल! दिलि! मनठार! दिलिबर! पुन्हल! आदि माधुर्यपूर्ण प्रेमसूचक शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग होता है। इस प्रकार यहाँ के भाषण में लचक और स्वर-माधुर्य देखकर हम निःसंदेह कह सकते हैं कि 'पठन्ति लटभं लाटाः'—इस वाक्य की सार्थकता तथा कुवलयानंद-कथित लाड़ देश की स्त्रियों की सौंदर्य-विषयक प्रतिस्पर्धा की अन्वर्थता इसी प्रदेश में सिद्ध होती है।

उपसंहार

मैं यह नहीं कहता कि सिंधु प्रांत का वर्तमान लाड़काना प्रदेश ही उपर्युक्त ग्रंथकारों (राजशेखर, कुवलयानंद आदि) का विवक्षित लाट देश है; क्योंकि उनके समय तक भारतवर्ष के भूगोल में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था। मेरा वक्तव्य केवल इतना ही है कि इन विद्वानों ने प्रागैतिहासिक लाट देश (लाड़काणो) के विषय में परंपरागत जो भी किंवदंतियाँ सुनी होंगी उन्हें गुजरात प्रांत के लाट देश (भड़ोच) के साथ जोड़ दिया होगा, क्योंकि उस समय यही लाट देश प्रसिद्ध हो चुका था। आज इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही है। जो बात हम केवल पढ़ते और सुनते थे उसे अब प्रत्यक्ष देख रहे हैं। मनुष्य राष्ट्र-विप्लव के समय किस प्रकार एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और साथ में अपने रस्म-रिवाज तथा आचार-विचार भी ले जाते हैं—इतना ही नहीं बल्कि अपने

देश आदि के प्रिय नाम तक भी अधिकृत स्थानों को प्रदान कर देते हैं, जैसे इन दिनों सिंधु के निर्वासित अपनी नई बस्ती कल्याण कैंप (मुंबई) तथा कंडला बंदर (कच्छ प्रदेश) को 'नव सिंधु' नाम दे रहे हैं—यह आज एक स्वाभाविक बात प्रतीत होती है। इतिहासज्ञों की दृष्टि में वर्तमान गुजरात का 'गुर्जर' नाम भी तो अपना नहीं है। यहाँ के निवासियों के पूर्वज भी किसी समय में राष्ट्र-विप्लव के कारण पंजाब के गुर्जर प्रदेश से आकर यहाँ बसे थे और अपना प्रिय नाम इसको दिया था।

इसी प्रकार, यह सर्वथा संभव है कि उपर्युक्त विशिष्ट कारणों से किसी काल में वास्तविक लाट देश (लाड़काणो) के निवासी अपना देश छोड़कर दक्षिण सिंधु के हैदराबाद जिले के बदीन तालुका और कराची जिले में आ रहे और उन्होंने उसको लाट (लाड़) नाम दे दिया। अधिक काल बीतने पर आसपास के जलवायु के प्रभाव से उनकी भाषा मे वह पहले जैसी लचक और स्वरमाधुर्य नहीं रह गया। इस कारण उत्तर सिंधु के लोग लाड़ी सिंधी को कच्ची (अपरिपक्व) मानते हैं और उनके बोलनेवालों का उपहास करते हैं। फिर कालांतर में यहाँ से कोई जनसमुदाय उठा और उसने वर्तमान गुजरात के किसी एक प्रदेश में आकर डेरा जमाया तथा उसे अपने प्रिय लाट (लाड़) नाम से भूषित किया। परंतु जो प्रमाण लाट देश को पहचानने में साधक हैं वे हमें सिंध-प्रांत के लाड़काणो के विषय में ही उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

चयन

शब्दों का देश

भारत सरकार के सूचना विभाग से प्रकाशित होनेवाले पाक्षिक पत्र 'आजकल' में श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल का 'शब्दों का देश' शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी लेख प्रकाशित हुआ है जो यहाँ अविकल रूप में उद्धृत किया जाता है—

भारत के लंबे इतिहास में अनगिनत शब्द जन्मे, कुछ चमके, गिरते-पड़ते अस्त हुए, और कितने ही सदा के लिये आकाश में भर गए जो आज भी पनपते हैं। शब्द अतीत जातीय जीवन के प्रतीक बनकर रह जाते हैं। शताब्दियों की भारी हलचलें अपने पीछे शब्द के दमकते हुए रत्न छोड़ जाती हैं। शब्दों का भाग्य कभी जागता है, कभी सो जाता है। शब्द राष्ट्र के बढ़ते-घटते मानस-चैतन्य की साक्षी भरते रहते हैं। शब्द के पीछे जो अर्थ रहता है वह नित्य है, पर युगविशेष में भारी प्रयत्न से ही अर्थ का साक्षात्कार किया जाता है। सशक्त प्रयत्न के बिना अर्थ की प्राप्ति असंभव है। जब अर्थ जीवन में बसता है, तभी जीवन ऊपर उठता है। सत्य, तप, यज्ञ, धर्म, कर्म ये और इनके सदृश अनेक शब्द समय समय पर उत्पन्न हुए। अनेक मनुष्यों की साधना से इन शब्दों का तेजस्वी अर्थ जनता के जीवन में प्रत्यक्ष हो उठा और उस काल के लिये वह अर्थ देश के वातावरण में भर गया। अर्थ की महिमा से शब्द को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और वे शब्द अपने-अपने युग के प्रतिनिधि बनकर उस काल की गाथा हमें सुनाते हैं। मानवी विचार शब्दों में साकार होते हैं और शब्द की कृपा से ही वे हमारे लिये त्रिकाल में सुलभ बने रहते हैं।

भारत के जातीय जीवन में शब्दों का अनंत विस्तार है। शब्द-विस्तार की दृष्टि से यह देश संसार के अनेक देशों में अगुआ है। भारत में शब्दों की विशेष बढ़ती के कई स्पष्ट कारण हैं। कम से कम चार सहस्र वर्षों तक यहाँ जातीय जीवन के उतार-चढ़ाव की हलचलों में बराबर शब्द बनते रहे। काश्मीर से कन्याकुमारी तक फैला हुआ लंबा चौड़ा भू-प्रदेश भी शब्द-विस्तार का कारण है।

इस विस्तार में अनेक प्रकार की विचित्रताएँ हैं। प्रकृति, जन, भाषा, रहन-सहन के भेद अनेक शब्दों के बनने और आपस में घुल-मिल जाने के कारण बन जाते हैं। शबर, मुंडा, कोल, भिल्ल, संथाल आदि निषाद जातियों की मातृभूमि होने के कारण भारतीय भाषाओं को उनसे प्राप्त होनेवाले अनेक शब्दों का लाभ हुआ। फल-फूल, वनस्पति, औषधि, वृक्ष, नदी, पर्वतों के नामों की व्युत्पत्ति की जब पूरी छानबीन होगी तब भौतिक जीवन से संबंध रखनेवाले कितने ही शब्द निषाद भाषाओं से अपनाए हुए मिलेंगे। आर्य जाति की भाषा तो इस देश की राष्ट्रीय भाषा संस्कृत ही है। उसकी दो सहस्र के लगभग धातुओं, अनेक प्रत्ययों, व्याकरण के ठाठ और मुहावरों की सहायता से हमारे विचारों को प्रकट करनेवाली भाषा का ताना-बाना बुना हुआ है। इसी में बहुसंख्यक बोलियों के शब्द, देश्य प्राकृतों की धातुएँ और उनसे बननेवाले शब्द मिलते रहे हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का जो बहुरंगी इतिहास है उसमें संसार की अन्य अनेक जातियों ने भाग लिया है। संसार में शायद ही जातियों की उथल-पुथल की कोई बड़ी आँधी ऐसी उठी हो जिसका प्रभाव भारतवर्ष पर न पड़ा हो। शक, कुषाण, हूण, मंगोल, मुसलमान, इन जातियों ने भारत में प्रवेश किया और वे अपनी भाषाओं के साथ यहाँ के जनसमुदाय में मिल गईं। इनमें भाषा पर सबसे अधिक प्रभाव मुसलमानों के आने से पड़ा।

लगभग १००० ई० से १२०० तक मुसलमानों का पहला समागम हुआ और पीछे तो उनके छोटे-बड़े राज्य देश के कितने ही भागों में स्थापित हो गए और मुसलमानों के साथ यहाँ के रहनेवालों के दुःख सुख मिलकर दोनों जातीय जीवन की इकाई में बँध गए। यही समय भारत में आधुनिक भाषाओं के जन्म का युग था। लगभग नवीं शताब्दी में अपभ्रंश भाषा का विस्तार हो चुका था और बारहवीं शताब्दी के लगभग अपभ्रंश भाषा से ही और विकसित होकर नई भाषा-शैली का परिवर्तन आरंभ हो गया था। यही भाषा-शैली आगे आनेवाली प्रांतीय भाषाओं की जननी थी। हिंदी, गुजराती, मराठी, राजस्थानी, पंजाबी, सिंधी, कश्मीरी, उड़िया, बंगाली, बिहारी, आसामी, पहाड़ी, नेपाली आदि प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों का यही ऐतिहासिक क्रम रहा है। मुसलमानों के आने से भारतीय भाषाओं पर दो तरह का प्रभाव हुआ। एक तो अफगानिस्तान (प्राचीन बाल्हीक-

कपिशा-गांधार) और अश्व एशिया (प्राचीन कंबोज) भारतीय भाषाओं की मुख्य धारा से अलग जा पड़े। यद्यपि इन भाषाओं के व्याकरण का ठाठ और उनकी मूल शब्दावली का ढाँचा आज भी संस्कृतप्रधान है परंतु इन भाषाओं का भविष्य पूरी तरह अरबी-फारसी के हाथों में सौंप दिया गया। दूसरा प्रभाव भारत के भीतर की भाषाओं पर था अर्थात् उनमें अरबी और फारसी के शब्दों की छुटपुट मिलमेल। इस मिलावट में एक बात मार्के की हुई। वह यह कि भारतीय भाषाओं का व्याकरण का ठाठ बिलकुल अपना बना रहा, अरबी-फारसी के शब्द उनमें मिले पर अपना परिवार नहीं बढ़ा सके। भाषाशास्त्र की दृष्टि से इसे यों समझना चाहिए कि प्रत्येक भारतीय भाषा का धातुपाठ ठेठ स्वदेशी बना रहा। अरबी-फारसी की धातुएँ उनमें न मिल सकीं। हिंदी शब्द-सागर में इस समय लगभग तीन सहस्र धातुएँ हिंदी की दी हुई हैं, उनमें शायद एक दर्जन ऐसी होंगी जो अरबी-फारसी से आई हों, जैसे अंदाजना, गुजरना, खरीदना, बदलना। बाकी सब धातुएँ संस्कृत, पाली, प्राकृत और देश्य भाषाओं से आई हुई हैं, उनकी लंबी परंपरा वैदिक भाषा तक पहुँचती है। पाणिनि का धातुपाठ, शाकटायन, चंद्र आदि के धातुपाठ और दूसरे प्राकृत व्याकरणों के धातुपाठ और साहित्य में प्रयुक्त भाषाओं से चुनकर संगृहीत धातुपाठों को जब हम इस दृष्टि से देखते हैं तो उनमें पठित धातुओं का स्वच्छ स्वदेशीपन देखकर प्रसन्नता होती है। प्रत्ययों के साथ मिलकर उन धातुओं से कितने ही शब्द बने हैं और आगे भी बनते रहेंगे। प्रत्येक प्रांतीय भाषा के धातुपाठ की यह निधि अपनी शुद्ध स्वदेशी पूर्व परंपरा से प्राप्त हुई है। इन धातुपाठों का अलग-अलग संग्रह, दूसरों के साथ तुलनात्मक अध्ययन और फिर प्रत्येक की व्युत्पत्तियों की खोज और पहचान भारतीय भाषाशास्त्र का पहला और अत्यावश्यक कर्तव्य है। उदाहरण के लिये वैदिक भाषा में 'इ' धातु मिलती है जिसका अर्थ 'गति' है। इसीमें उपसर्ग लगाकर प्रेत, समेत, व्यक्त, अभिप्रेत, अवेत, अन्वित, दुरित, प्रतीत आदि शब्द लौकिक संस्कृत में बनकर प्रयुक्त हुए। यह धातु भारत-यूरोपीय वर्ग की थी और यूरोपीय देशों की भाषा में भी उससे निकले हुए शब्द मिलते हैं। अंगरेजी के इटिनरेरी, इटीनरेंट शब्द मूल 'इ' धातु से निकले हैं। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में मातृभूमि के लिये एक शब्द 'एमेन्वती' आया है जिसका अर्थ है,

आगे जानेवाली (अग्र+इत्वरी) और ग्रिफिथ ने 'लीडर' शब्द से उसका अनुवाद किया है। अर्थात् पृथ्वी सूक्त के ऋषि ने अपनी भूमि के लिये सुंदर कल्पना की थी कि वह विश्व के अन्य देशों में अगुआ है। 'इत्वरी' शब्द भी उसी 'इ' धातु से बना जिसका अर्थ था गमनशील। वह शब्द कुछ ऐसे बना होगा। इ धातु में त प्रत्यय जोड़कर पहले इत बना जिसका अर्थ था गति या गमन। गमन या गति विशेष रूप से जिसमें हो वह हुआ 'इत्वर' या स्त्रीलिंग में इत्वरी। वैदिक काल में यह शब्द अर्थ की ध्वनि से भरा हुआ बहुत सुंदर समझा जाता था और कितनी ही बार इसका प्रयोग मिलता है। संस्कृत साहित्य में उसी अर्थ के वाचक नए-नए शब्द बन गए और वह शब्द पीछे पड़ गया। परंतु लोक के मन में, शब्द की चंचल अर्थ वाली ध्वनि बराबर बनी रही और चार हजार वर्षों तक लोक ने उसका साथ बराबर निबाहा। मेरठ या कुरु जनपद की बोली में आजतक 'इत्वरी' शब्द जीवित है। दुहते समय उछल-कूद करनेवाली गाय को 'इतरी गाय' कहा जाता है। ऊधमी बच्चे के लिये भी 'इतरा बालक' प्रयोग देहातों में चालू है। इसी सुंदर शब्द की व्यंजना से हिंदी को 'इतराना' नामधातु[1] प्राप्त हुई है, जो बोलचाल की हिंदी में चालू है।

वैदिक काल और प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक जो शब्दों का विकास और इतिहास है उसका अध्ययन हिंदी भाषा और प्रांतीय भाषाओं के निरुक्त शास्त्र के लिये आवश्यक है। शब्दों की व्युत्पत्ति की छानबीन करते हुए हम अनेक भूले हुए ऐतिहासिक तथ्यों और प्रवादों को फिर से सुन लेते हैं। अथर्ववेद में तैमत, अप्सु, अलिगी-विलगी, उरुगूला और सिनि शब्द आए हैं। निश्चयपूर्वक इन शब्दों का संबंध पश्चिमी एशिया के देशों से है। बेबिलन के प्राचीन इतिहास में बेलमर्दुक और तैमत के युद्धों की कथाएँ हैं। अप्सु का रूपांतर वहाँ अब्जु समुद्र के देवता की संज्ञा है। सिनि का रूपांतर सिन चंद्रमा देवता का नाम है। देवमर्दुक की श्री गुला का संबंध उरुगूला से स्पष्ट है। कब और कहाँ इन नामों का आदान-प्रदान हुआ इस प्रश्न का निश्चित उत्तर

१.—संज्ञा शब्दों से जो धातुएँ बन जाती हैं उन्हें नामधातु कहते हैं। जैसे बात से 'बतियाना'। हर एक भाषा में इस तरह की धातुएँ पाई जाती हैं।

इतिहास से हमें मिलना चाहिए। परंतु शब्दों की जाँच-पड़ताल का शास्त्र ऐसे प्रश्नों से हमारी झकझोर करा देता है। महाभारत वनपर्व (१९० । ६५, ६७) में एडूक और उसके पाठांतर आरूक का उल्लेख है। यह एक प्रकार का ऊँचा मंदिर था जो एक दूसरे से छोटी होती हुई कुर्सियों या मेधियों के रूप में बनाया जाता था। इसका एक उदाहरण बरेली जिले के अहिच्छत्रा स्थान की खुदाई में प्राप्त हुआ है। विष्णु-धर्मोत्तर पुराण में एडूक की रचना का पूरा विवरण भी मिला है। एडूक का पाठांतर आरूक बहुत महत्वपूर्ण है जिसकी ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। किंतु यह शब्द भी पश्चिमी एशिया के साथ हमारे संबंधों की ओर संकेत करता है। प्राचीन बावेरु या बेबिलन में 'जिग्गुरत' नामक बड़ी ऊँची अट्टालिका रूपी इमारतें बनती थीं जिनकी रचना एडूकों से बहुत मिलती थी। संस्कृत का आरूक शब्द उसी 'जिग्गुरत' का रूपांतर है। फारसी में उसी से 'जियारत' शब्द बना है जो किसी व्यक्तिविशेष की समाधि के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार शब्दों की ठीक पहचान की खोज में हम कभी कभी बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य तक पहुँच जाते हैं। भाषा का प्रत्येक शब्द अपना इतिहास रखता है। उसके अर्थों का और उसके बाहरी रूप का विकास और परिवर्तन होता रहता है। वेद के समय में जो महान् शब्द हमारे ज्ञानाकाश में प्रमुखतया भरे हुए थे, कालांतर में उनमें परिवर्तन आवश्यक हो गया। विकास का दुर्धर्ष नियम शब्दों के जीवन पर निश्चित प्रभाव डालता है। बुद्ध के समय में 'धम्म' और 'कम्म' इन दो शब्दों में एक नया अर्थ भर गया। वेद का ऋत शब्द किसी समय विश्व के रचनात्मक विधान या नियमों के अनुकूल मार्ग के अर्थ में चोटी का शब्द था, पर धीरे धीरे उसने अपने तेज को समेट लिया। बौद्ध काल में मग्ग (= मार्ग), यह नया शब्द प्रचलित हुआ। उस समय जब लोग मार्ग के विषय में प्रश्न पूछते थे तो वह एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने का रास्ता मात्र नहीं था, उस समय का 'मग्ग' बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग की व्यापक ध्वनि अपने भीतर छिपाए हुए था। परंतु फिर वही क्रम हुआ और मार्ग शब्द के तेजस्वी अर्थ की किरणें शनैः शनैः छिप गईं। परंतु शब्द नितांत सुंदर है और संभव है कि पुनः उसमें नए सांस्कृतिक अर्थ भरे जा सकें। प्रत्येक युग के आदर्श कुछ विशिष्ट शब्दों के सूत्रों में संगृहीत हो सकते हैं। अभी अभी जिस युग के बीच में से हम चल रहे हैं उसका सबसे शक्तिशाली अर्थ 'सत्याग्रह' शब्द में संचित है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य का आग्रह—यही

नई कला गाँधी जी से देश को प्राप्त हुई। प्राचीन काल में व्रत करनेवालों की प्रतिज्ञा होती थी—इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि [मैं अनृत छोड़कर सत्य को प्राप्त करता हूँ]। सत्याग्रह के युग में भी ऐसा ही व्रत और प्रयत्न किया गया, परंतु इस प्रयोग को परिभाषाएँ और उद्देश्य नए थे। सत्याग्रह के अर्थों का उत्तराधिकार सर्वोदय शब्द को मिलने की संभावना है, आगे आनेवाले युग का पुरुषार्थ इसी शब्द के अधीन जान पड़ता है।

अर्थों के अतिरिक्त शब्दों के रूपों का परिवर्तन भी भाषाविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। हिंदी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं को संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के तीन पड़ाव पार करने पड़े हैं और इस लंबी यात्रा में उनके शब्दों की काफी घिसाई हुई है। बहुत ही थोड़े शब्द होंगे जो अपने चोले को ज्यों का त्यों रख पाए हों। गंगा की धारा में पड़े हुए खड़े पत्थर जैसे टकराते और घिसते हुए गोल-मटोल हो जाते हैं वैसे ही संस्कृत के साँचे में बँधे हुए शब्द उच्चारण की घिसाई से अपना नुकीलापन और कोर खोकर हलके-फुलके बन जाते हैं। संस्कृत का ब्राह्मण शब्द अशोक-कालीन प्राकृत में बंभन और उस समय की बोलियों में बंभन बन चुका था। खड़ी बोली का गठबंधन संस्कृत के साथ होने के कारण शब्दों का संस्कृत रूप ही पुनः चलन पाना चाहता है। मध्यकालीन संस्कृत में एक सुंदर शब्द था उद्यानिका, जिसका अर्थ था वाटिका-विहार, बाग-बगीचे में पिकनिक। हिंदी की परंपरा में वह शब्द नहीं बचा, परंतु गुजराती भाषा में उजानी शब्द (उद्यानिका-उज्जानिआ-उजानी) ठीक प्राचीन अर्थ में सुरक्षित है। संभव है हमारे बढ़ते हुए प्रकृति-प्रेम के साथ यह सार्थक शब्द पुनः पहली प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले। रूपपरिवर्तन के उदाहरण के लिये हिंदी का एक शब्द है रौंसली, जिसका अर्थ है नदी-तट की वह भूमि जो बरसात में हर साल नई जम जाती है और जिसमें बालू मिली हुई होती है। इसका संस्कृत रूप रजस्वला है। बरसात में नदियाँ मिट्टी-बालू के बहाव के कारण रजस्वला कहलाती हैं। उसी से रजस्वला-रअस्सला-रौंसला-रौंसली बना है। शब्दों के उदाहरण अनंत हो सकते हैं। सारे हिंदी जगत् को मिलाकर अपने प्रत्येक शब्द की छानबीन करनी होगी। हिंदी भाषा के क्रमबद्ध व्युत्पत्ति-कोष का कार्य अभी तक नहीं किया गया। सच पूछा जाय तो भारत की किसी भी प्रादेशिक भाषा या बोली के लिये निरुक्ति-कोष की रचना नहीं हुई। नेपाली बोली का टर्नर

का नेपाली कोश इस दिशा में अच्छा है परंतु उसमें भी व्युत्पत्ति का बहुत सा कार्य अभी बाकी है। अंग्रेजी भाषा में शब्द-व्युत्पत्ति का काम बहुत आगे बढ़ चुका है। जैसे कोई जौहरी अपने रत्नों को परख कर थैली में भर कर प्रसन्न होता है वैसे ही व्युत्पत्तिशास्त्र के वैज्ञानिक नियमों के अनुसार प्रत्येक शब्द को टटोल कर उसे अपना बना कर हम निश्चिंत और प्रसन्न हो सकेंगे। हिंदी भाषा की व्युत्पत्ति का कार्य हमें संसार की अन्य भाषाओं के साथ भी मिला देता है। जो शब्द संस्कृत से निकले हैं उनकी खोज करते हुए हम भारत-यूरोपीय वर्ग की अन्य भाषाओं तक जा पहुँचते हैं। उन-उन भाषाओं में भी शब्दों के और धातुओं के हमारे शब्दों से मिलते-जुलते रूप पाए जायँगे और हमें उन्हें जानना चाहिए। शायद अब तक यूरोपीय विद्वानों का काम इसी दिशा में अधिक हुआ भी है। देशी शब्दों की खोज और उनकी व्युत्पत्ति की पहचान दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसके लिये प्रत्येक बड़ी बोली के शब्दों का संग्रह कोष के रूप में करना आवश्यक है। जो विद्वान् हिंदी भाषा की व्युत्पत्ति के काम में रुचि रखते हों उन्हें बोलियों की ओर सबसे पहले ध्यान देने की आवश्यकता है। अपभ्रंश भाषा के निकटतम शब्दरूप बोलियों में ही हैं पहचाने जा सकेंगे। शब्दों के अनुसंधान की तीसरी दिशा अरबी-फारसी और उनसे संबद्ध भाषाओं की जाँच-पड़ताल है। फारसी का संबंध तो अंततोगत्वा संस्कृत से ही है। फारसी का पूर्व रूप पहलवी भाषा थी जिसका ईरान में दूसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक राजकीय भाषा के रूप में प्रचार था। पहलवी भाषा के संरक्षक सासानी वंश के प्रतापी राजा गुप्तों के समकालीन थे। भारत में कुछ पहलवी शब्द उस समय आ गए थे। हर्षचरित में स्तवरक नामक एक कीमती रेशमी कपड़े का नाम आया है जो ईरान में इस्तब्रक कहलाता था और वहाँ से पूर्व में भारतवर्ष लाया जाता था और पश्चिम में अरब को जाता था। कुरान के उस प्रकरण में जहाँ स्वर्गीय स्त्रियों का वर्णन है, इस्तब्रक कपड़े का उल्लेख हुआ है जिससे हूरों के शरीर अलंकृत थे और जिसे कुरान के सभी टीकाकारों ने विदेशी शब्द माना है। वह कपड़ा नहीं रहा और इसी कारण बाद के संस्कृत साहित्य और उससे निकली हुई भाषाओं में उस शब्द का कोई रूपांतर नहीं बचा। पहलवी भाषा के कोषों को देखने से हजारों शब्द ऐसे मिलते हैं जो हिंदी में ज्यों के त्यों मिलते हैं। सियाबाज, बुत, साल, सिपाही, [illegible], पसंद, [illegible] ऐसे ही शब्द हैं। यद्यपि यह सत्य है कि इनकी परंपरा अब मुसलमानी युग में चली आ

फारसी से हमें प्राप्त हुई परंतु फिर भी अपने व्युत्पत्ति-कोष का पेटा पूरा करने के लिये हमें दूर तक जाते हुए पहलवी भाषा तक पहुँचना होगा। और संभव है उससे भी आगे प्राचीन ईरानी भाषा तक जाना पड़े। फारसी तो आर्यभाषा परिवार की है, उसके साथ हमारी भाषा का संबंध निकट का है। अरबी भाषा म्लेच्छ (सेमैटिक) भाषा परिवार की एक प्रधान भाषा है जिसकी चार सगोती बहनें और हैं—अफ्रीका की अबिसिनियन भाषा, अरमाइक भाषा जो किसी समय पश्चिमी एशिया से ईरान तक की शिष्ट भाषा बनी हुई थी, इबरानी या यहूदी (हिब्रू) भाषा और इन सब से महत्त्वपूर्ण और प्राचीन असीरियन बेबीलोनियन या असुर-बावेरु की भाषा। अरबी भाषा के जो हजारों शब्द हिंदी में घुले-मिले हैं उनकी पुरानी आयु और रचना की पूरी जानकारी के लिये हमें इन सब भाषाओं का द्वार खटखटाना होगा, उनके पुराने कोषों की छानबीन करनी होगी, तब कहीं जाकर शब्द-व्युत्पत्ति का रुँधा हुआ मार्ग अंत तक प्रशस्त किया जा सकेगा। किताब शब्द आज हिंदी के आँगन में घरेलू कलोर की तरह रम गया है। पर उसका मूल निकास अरबी की तीन व्यंजन वाली क्-त्-ब् धातु से है जो म्लेच्छ वंश की सभी प्राचीन भाषाओं में मिलता है और उससे निकले हुए शब्द उन भाषाओं में आज भी चालू हैं। किताब शब्द के अर्थ और रूप की जानकारी हमें उन भाषाओं में भी रुचि प्रदान करती है। यह जानकर किसे प्रसन्नता न होगी कि हिंदी का औरत शब्द मूल में मिस्री भाषा का शब्द है जिसकी आयु लगभग छः सहस्र वर्ष पुरानी है और जो अरबी के मार्ग से हमारे यहाँ पहुँचकर सारे देश में फैल गया है। अरबी भाषा की सैकड़ों धातुओं से बने हुए संज्ञा शब्द हमारे नित्य प्रति के जीवन में चालू हैं और उनकी ध्वनि, रूप और अर्थ हमारे अंतःकरण में बैठे हैं। उनके प्रति भी हमारा सम्मानभाव है। जो शब्द हमारा उपकार करते हैं वे हमारे हैं। वे भी उस सरस्वती के रूप हैं जो ज्ञान की अधिदेवता हैं। अंततोगत्वा सरस्वती के मंदिर में तो सबका निर्बाध प्रवेश है। सरस्वती देवी का जो अनिर्वचनीय रूप है, उसकी जो तुरीय अवस्था है उसमें तो संसार भर के शब्द और अर्थों का एकायन या एकत्र समवाय है। केवल वैखरी भाषा के देश में शब्दों के रूप-भेद हैं। अतएव जब हम ज्ञानदेवता के मंदिर में प्रफुल्लित मन से प्रवेश करते हैं तब हमारी भावनाएँ खिलती हैं और हमारे हृदय का वरदान चारों ओर

स्वागत के दीप जैसता हुआ फैलता है। हिंदी के उत्तराधिकार को सँभालनेवालों के लिये उचित है कि वे सरस्वती के उस उदार रूप की उपासना करें जिसमें अनेक तेज एक साथ मिले हैं। सबसे अधिक शुभ्र और भास्वर तेज तो आर्यभाषा का अपना ही है और वह किसी भी अन्य तेज से परास्त होनेवाला नहीं है।

आर्यों की आदि भूमि पर पुराणों का साक्ष्य

'इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली' पत्रिका, भाग २४ अंक २ में हिंदूविश्वविद्यालय के इतिहास के प्राध्यापक डाक्टर राजबलीपांडे का 'द पुरानिक डेटा ऑन दि ओरिजिनल होम ऑव दि इंडोआर्यन्स' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें पुराणों के साक्ष्य पर यह स्थापित करने का यत्न किया गया है कि भारतीय आर्यों का मूल निवास मध्यदेश में था। उक्त अंगरेजी लेख का लेखक द्वारा संशोधित हिंदी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय आर्यों की आदि भूमि के संबंध में अभी तक अधिकांश विद्वानों ने निम्नलिखित मुख्य, पर अंततः अप्रमाणित, धारणाओं के आधार पर अपने-अपने मत स्थिर किए हैं[१]—

१—आरंभ में एक ही मूल आर्य जाति थी, जिसकी शाखाएँ पीछे एशिया और यूरप के भिन्न-भिन्न देशों में फैलीं। भारतीय आर्य भी इसी जाति की एक शाखा थे।

२—मूल आर्य जाति की एक ही सामान्य भाषा थी जिसकी अनेक शाखाएँ उसकी पसरती हुई विभिन्न शाखाओं के साथ भिन्न-भिन्न देशों में गईं।

३—उक्त विभिन्न भाषा-स्रोतों के उद्गम (मूल भाषा) का अनुसंधान करके आर्यों की समान आदि भूमि का पता लगाया जा सकता है।

इन धारणाओं के औचित्य के संबंध में गंभीर आक्षेप किए जा चुके हैं। मनुष्य की एक समान उत्पत्ति की नाई एक मूल आर्य जाति के अस्तित्व पर प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। अतः भारतीय आर्यों के प्रश्न को यूरप की उन आर्य कहलानेवाली जातियों की उत्पत्ति के प्रश्न के साथ जोड़ना आवश्यक नहीं जिनकी उन्नीसवीं शती में भाषाशास्त्र का अध्ययन आरंभ होने के पूर्व 'आर्य' संज्ञा ही नहीं थी। दूसरी धारणा

१—जी० चाइल्ड, दि आर्यन्स; आइज़क टेलर, ओरिजिन ऑव दि आर्यन्स; पी० गाइल्स, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द १, पृ० ६६।

थी कि भाषा-साम्य जातिगत एकता का सूचक है, अमान्य हो चुकी है। तीसरी कारण का आधार कल्पना पर अवलंबित एक ऐसी भाषाशास्त्रीय सामग्री है जिसका उपयोग भिन्न-भिन्न पक्ष के विद्वानों ने आर्यों के आदि देश को भिन्न-भिन्न जगह सिद्ध करने के लिये किया है। प्रस्तुत लेखक के मत विचार से भाषाशास्त्रीय एवं भाषा-वैज्ञानिक प्रमाण अत्यंत अपूर्ण एवं दुर्बल हैं, फलतः उनसे निकाले गए निष्कर्ष भी स्वभावतः सदोष होंगे। भाषाओं में विभिन्न देश-काल के व्यक्तियों, वस्तुओं एवं घटनाओं के बोधक शब्द एक ही काल में एक साथ व्यवहृत हुए पाए जाते हैं। उनके आधार पर खड़ा किया हुआ ढाँचा वास्तविकता से बहुत दूर होगा। अतः जब तक प्रत्यक्ष एवं कालक्रम-बद्ध प्रमाणों का नितांत अभाव न हो तब तक भाषा-शास्त्रीय एवं भाषावैज्ञानिक साक्ष्य को प्रधान महत्व नहीं दिया जा सकता। उनके प्रमाण केवल पूरक ही माने जा सकते हैं। उनमें एकांततः रचना-शक्ति नहीं होती। यह नहीं माना जा सकता कि आर्यों के प्रारंभिक इतिहास के प्रत्यक्ष-वर्णित स्रोत नहीं हैं और हमें भाषाविज्ञान के अप्रत्यक्ष और आकस्मिक प्रमाणों का उपयोग करना ही होगा।

भारतीय आर्यों का सुसंबद्ध इतिहास पुराणों में सुरक्षित है। उनमें आर्यों की आदि भूमि के संबंध में प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं। भारतीय परंपरा[१] के अनुसार तो अभी तक प्रायः जिस वैदिक साहित्य के आधार पर भारतीय आर्यों का आदिकालिक इतिहास लिखा गया है उसको समझने के लिये भी पुराणों का अध्ययन आवश्यक है। इसमें रहस्य यह है कि वैदिक साहित्य के तत्त्वतः काव्यमय एवं कर्मकांड तथा दर्शन प्रधान होने के कारण उसमें जिन बातों का केवल अल्प एवं आनुषंगिक उल्लेख मिलता है उसका पूर्ण प्रसंग पुराणों में ही पाया जाता है। आर्यों की आदि भूमि के संबंध में पुराणों के स्वतंत्र अध्ययन का निष्कर्ष भाषाशास्त्रीय शोधों के परिणाम से सर्वथा भिन्न है। इस विषय पर पुराणों का साक्ष्य संक्षेप में इस प्रकार है—

मध्यदेश में भारतीय आर्यों का उदय

१—भारतीय आर्यों का हिमालय के ढालों तथा उत्तर भारत के अधिकांश

१—वायुपुराण, १।२००-१

भाग (उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व प्रदेशों को छोड़कर) पर उनके इतिहास के आरंभ काल से ही अधिकार था। यह संपूर्ण भूमि प्रथम ऐतिहासिक आर्य नृपति मनु का देश कहलाती थी।[3]

२—मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु सरयू-तट पर बसी हुई अयोध्या नगरी में राज करते थे जो उनके पिता की भी राजधानी रह चुकी थी। वे सूर्यवंश की प्रधान शाखा के मूल पुरुष थे।[4]

३—मनु के दौहित्र ऐल (इला के पुत्र) पुरूरवा ने गंगा-यमुना के संगम पर प्रतिष्ठान (इलाहाबाद के निकट झूँसी) में ऐल अथवा चंद्रवंश की स्थापना की।[5]

४ सौद्युम्न नामक एक अन्य आर्यकुल, जिसका भी मनु के कुल से वैवाहिक संबंध था, दक्षिण-बिहार और उड़ीसा पर राज्य करता था। सुद्युम्न के तीन पुत्र थे—गय, उत्कल और हरिताश्व। गय गया में राज करते थे जो उन्हीं का बसाया हुआ था।[6]

भारतीय आर्यों का प्रसार

सूर्यवंश का विस्तार—सबसे पहले मनु के कुल का विस्तार हुआ। उनके पुत्र-पौत्र साहसी एवं महत्वाकांक्षी थे और वे भारत के भिन्न भिन्न भागों में तथा उसके बाहर भी राज्य एवं उपनिवेश स्थापित करने में समर्थ हुए।

१—इक्ष्वाकु से चलनेवाली मनु-कुल की प्रधान शाखा अयोध्या में चलती रही।[7]

२—मनु के पुत्र नाभानेदिष्ट ने वैशाली (बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) में एक वंश की स्थापना की।[8]

३—मनु के पुत्र कारूष ने बिहार के दक्षिण-पश्चिम तथा रीवाँ राज्य के पूर्व सोन नदी के तट पर एक राज्य स्थापित किया।[9]

३—ब्रह्मांड०, ३।२०।२-३ ४—वायु०, ८५।२०-१

५—शिव०, ७।६०; विष्णु०, ६।२०

६—वायु०, ८५।१८-१९; शिव०, ६०।१४-१५

७—मत्स्य०, १२।१५ ८—वायु०,८६।३-२२

९—पद्म०, ५।८।१२९

४—मनु के पुत्र धृष्ट के वंशजों ने पूर्वी पंजाब पर अधिकार किया।[10]

५—मनु के पुत्र नाभाग ने यमुना नदी के दक्षिण तट पर एक वंश की स्थापना की।[11]

६—मनु-पुत्र शर्याति उत्तर गुजरात में आनर्त पर राज्य करते थे।[12]

७—नरिष्यंत के वंशज उत्तर-पूर्व की ओर भारतवर्ष के बाहर गए।[13]

८—इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने उत्तर-पूर्व बिहार में विदेह कुल की स्थापना की।[14]

९—इक्ष्वाकु के पुत्र दंड ने दक्षिण के जंगल प्रदेश का अनुसंधान किया जिसका नाम उन्हीं के नाम पर दंडकारण्य पड़ा।[15]

१०—इक्ष्वाकु के पचास वंशजों ने, जिनके प्रमुख शकुनि थे, उत्तरापथ (उत्तर-पश्चिम भारत) पर अधिकार किया।[16]

११—वसति के अड़तालीस वंशजों ने दक्षिणापथ पर अधिकार किया।[17]

१२—इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र विकुक्षि के बाईस वंशजों ने मेरु के उत्तर प्रदेश (सुमेरिया) पर अधिकार किया।[18]

१३—उन्हीं के अन्य एक सौ चौदह वंशजों ने मेरु के दक्षिण देश में उपनिवेश बनाया।[19]

चंद्रवंश का विस्तार—यह वंश अत्यंत वीर्यवान् और संततिशील था। सूर्य वंश के विस्तार के बाद ही इसका विस्तार आरंभ हुआ और अनेक स्थानों में इसने उसे अपने अधीन कर लिया।

१—पुरूरवा के पुत्र आयु के अधीन प्रधान शाखा प्रतिष्ठान में चलती रही।[20]

१०—मत्स्य०, १२।२०-१

११—भागवत०, ९।२।१७-१८ १२—विष्णु०, ४।१।२०-२४

१३—शिव०, ७।६०।१६ १४—वायु०, ८८।१-२,५

१५—शिव०, ७।३।३१-४, ३७

१६—वही। १७—वही।

१८—वही। १९—वही।

२०—वायु०, ९१।५१-२

२—पुरूरवा के एक दूसरे पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज (=कन्नौज) में एक वंश की स्थापना की।[21]

३—पुरूरवा के पौत्र तथा आयु के पुत्र क्षत्रवृद्ध ने काशी में एक वंश की स्थापना की।[22]

४—नहुष के पुत्र और उत्तराधिकारी ययाति बहुत बड़े विजेता थे। उन्होंने उत्तर-पश्चिम, दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम की ओर बहुत से प्रदेश जीते। भारतीय इतिहास में वे प्रथम सम्राट् हुए।[23]

५—ययाति के पाँच पुत्र थे—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। ययाति का राज्य इन पुत्रों में इस प्रकार बँटा था[24]—

(१) कनिष्ठ पुत्र पुरु प्रतिष्ठान में ययाति के उत्तराधिकारी हुए।

(२) यदु को चर्मण्वती (चम्बल), वेत्रवती (बेतवा) और शुक्तिमती (केन) के तट का राज्य मिला।

(३) तुर्वसु को दक्षिण-पूर्व का प्रदेश मिला। पीछे उनके वंशज उत्तर-पश्चिम की ओर चले गए।

(४) द्रुह्यु को यमुना के पश्चिम और चर्मण्वती के उत्तर का देश दिया गया। पीछे उनके वंशज उत्तर-पश्चिम की ओर गए।

(५) गंगा-यमुना दोआब का उत्तरी भाग अनु को मिला।

उत्तर-पश्चिम में चंद्रवंश की उत्तरकालीन स्थिति—

१—यादव (यदुवंशी) लोग अपने राजा शशबिंदु की अधीनता में बहुत शक्तिशाली हो गए।[25] उन्होंने द्रुह्यु के वंशजों को उत्तर-पश्चिम की ओर पंजाब में ढकेल दिया।[26] पीछे अयोध्या के सम्राट् मांधाता ने द्रुह्यु-वंशियों को और उत्तर-पश्चिम ढकेला, जहाँ उनके राजा गांधार ने जाकर गांधार राज्य स्थापित किया।[27]

२१—वही। २२—वही।

२३—ब्रह्मांड०, ३।६८।१२-१३

२४—वायु०, ९३।९०; ब्रह्मांड०, ३।६८, ९२

२५—वायु०, ९५।१९ २६—वही।

२७—वही, ९९।८

२—यादवों ने प्रतिष्ठान के मूल चंद्रकुल को भी दबा लिया और पौरवों को उत्तर-पश्चिम की ओर जाने के लिये विवश किया।[१८]

३—मांधाता ने आनवों को भी, जिनका राज्य अयोध्या और द्रुह्यु राज्य के बीच था, उत्तर-पश्चिम की ओर पंजाब में जाने के लिये विवश किया।[१९]

४—आनव राजा उशीनर के पुत्र शिवि से पंजाब में शिविवंशियों का विस्तार हुआ और उनके पुत्रों ने वृषदर्भ, मद्र, केकय और सौवीर राज्यों की स्थापना की।[२०]

५—द्रुह्युओं ने अपने राज्य के पूर्वी भाग को खोकर भी गांधार पर अपना अधिकार बनाए रखा। पाँच पीढ़ियों के बाद उनकी संख्या बढ़ने लगी और उत्तर-पश्चिम बढ़कर उन्होंने भारत के बाहर म्लेच्छ देशों में कई राज्य स्थापित किए।[२१]

६—मांधाता तथा यादवों के द्वारा प्रतिष्ठान से उद्वासित होकर पौरव लोग उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़े और हस्तिनापुर नगर बसाया। दुष्यंत ने पौरव वंश को पुनः संघटित किया। शकुंतला से उत्पन्न उनके यशस्वी पुत्र भरत उनके उत्तराधिकारी हुए। उनके उत्तराधिकारी भारत लोग भारतीय इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हुए। संपूर्ण देश ही उनके नाम पर भारतवर्ष कहलाया।[२२]

७—भरतवंश के एक पुरुष ने गंगा यमुना दोआब के उत्तरी भाग पर अधिकार किया। वहाँ एक भारत राजा भ्रम्याश्व के पाँच पुत्र हुए जिनका संयुक्त नाम पांचाल था, और उन्हीं के नाम पर उनके राज्य का नाम भी पांचाल पड़ा। उनमें एक का नाम मुद्गल था जिसके पुत्र वध्र्याश्व ने अपने राज्य का बहुत विस्तार किया। वध्र्याश्व के पुत्र

१८—विष्णु०, ४।४।१

१९—वही।

२०—ब्रह्मांड, ३।७४।१४-१९

२१—प्रचेतसः पुत्रशतं राजानः सर्व एव ते।
म्लेच्छराष्ट्राधिपाः सर्वे ह्युदीचीं दिशमाश्रिताः॥
—वायु०।

२२—भागवत०, ९।२३।१७-१८

दिवोदास ने उसे और बढ़ाया। दिवोदास के उत्तराधिकारियों—मित्रायु, मैत्रेय, सृंजय, च्यवन और सुदास—ने देश के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास में बड़े महत्वपूर्ण कार्य किए। सुदास ने उत्तर-पश्चिम में बहुत से प्रदेश जीते। महाभारत के अनुसार उसने परुष्णी (रावी) नदी के तटवर्ती पड़ोसी राज्य-संघ को पराजित किया।"[13]

पुराणों के साक्ष्य का निष्कर्ष

१—भारतीय आर्यों की आदि भूमि मध्यदेश थी। इसका केंद्र अयोध्या और प्रतिष्ठान (इलाहाबाद) के बीच था, जहाँ आर्यों के दो आदि कुलों (सूर्यवंश और चंद्रवंश) का उदय हुआ था। स्थूल रूप से इसके अंतर्गत संपूर्ण युक्तप्रांत और बिहार, सरस्वती तक पूरबी पंजाब तथा मध्यदेश का पूरबी भाग सम्मिलित था। इस निष्कर्ष का आधार यह है कि आर्यों के आदि कुलों की पूर्व शाखाओं को इन क्षेत्रों में बसने में अनार्यों से किसी प्रकार का युद्ध या संघर्ष नहीं करना पड़ा था, जिससे सिद्ध होता है कि आर्य वहाँ पहले ही से बस गए थे।

२—ये लोग अपने मूल केंद्र अयोध्या और प्रतिष्ठान से पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की ओर फैले। माना जाता है कि आर्य पश्चिमोत्तर गिरि-मार्गों से भारत पर आक्रमण करके पूर्व की ओर बढ़े, किंतु तथ्य यह है कि इक्ष्वाकु के कुछ निकट वंशजों से लेकर पांचाल राजा सुदास के समय तक उनका बढ़ाव मध्यदेश से ही पश्चिम-उत्तर की ओर रहा।

३—आर्यों ने केवल भारत के भीतर ही अपना विस्तार करके संपूर्ण उत्तरापथ (पश्चिमोत्तर भारत) पर अधिकार नहीं किया, प्रत्युत पश्चिमोत्तर गिरि-मार्गों को पार करके उन्होंने अफगानिस्तान, मध्य एशिया, फारस तथा पश्चिम एशिया में भूमध्य सागर तक की संपूर्ण भूमि पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

पार्जिटर के मत की समीक्षा

१—परंपरानुसार ऐल या आर्य इलाहाबाद = (प्रतिष्ठान) से चलकर उत्तर-पश्चिम, पश्चिम और दक्षिण विजय करके वहाँ फैल गए और ययाति के समय तक उस प्रदेश पर अधिकार कर लिया जिसे मध्यदेश कहते हैं।"[14]

१३—अग्नि०, २७०।१०; वक्त, २।१४०।१

१४—एफ० ई० पार्जिटर, एंशंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, पृ० २९६।

"भारतीय अनुश्रुतियों में अफगानिस्तान से भारत पर ऐलों या आर्यों के आक्रमण या वहाँ से पूर्व की ओर उनके बढ़ाव का कहीं पता नहीं है। इसके विपरीत वे स्पष्ट रूप से बतलाती हैं कि पश्चिमोत्तर मार्गों से द्रुह्यु (जो ऐल थे) भारत के बाहर गए जहाँ उन्होंने कई राज्य स्थापित किए और भारतीय धर्म का प्रचार किया।"[१४] यहाँ तक तो ठीक है। किंतु पार्जिटर ने कुछ और निष्कर्ष निकाले हैं जिनका किसी पुराण से समर्थन नहीं होता।

२—"ऐलों या आर्यों की उत्पत्ति के विषय में अनुश्रुतियाँ क्या कहती हैं? वे बतलाती हैं कि ऐल सत्ता का आरंभ इलाहाबाद से हुआ, किंतु साथ ही स्पष्ट रूप से संकेत करती हैं कि ऐल भारत के बाहर थे। लोककथाएँ ऐलों के पुरखा पुरूरवा ऐल का संबंध हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेशों से जोड़ती हैं।"[१५]

इस निष्कर्ष का आधार यह है कि मनु की कन्या इला मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश में गिरि-विहार के उद्देश्य से गई थी जहाँ सोम के पुत्र बुध से उसकी भेंट हुई। किंतु कहीं से भी यह संकेत नहीं मिलता कि बुध अथवा सोम मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश के ही थे, अथवा वहाँ भारत के बाहर से आए थे। इसके विपरीत, परवर्ती घटनाओं से पुष्ट यह स्पष्टतर संकेत मिलता है कि बुध भी इला की भाँति वहाँ गिरि-विहार के लिये प्रतिष्ठान से गया था जहाँ उसका पुत्र पुरूरवा उसके सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ। यदि ऐल या आर्य मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश से होकर उत्तर की ओर से आक्रमण करते तो वे मार्ग में अयोध्या के मानवों को यों ही छोड़कर सीधे प्रतिष्ठान न पहुँच जाते। स्वाभाविक निष्कर्ष यही है कि मानव और ऐल दोनों ही आर्य-कुल मध्यदेश में बसे हुए थे और मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश उसका बाह्य अंचल था जहाँ लोग विहार अथवा तपश्चर्या के निमित्त जाया करते थे। इसके अतिरिक्त सीधे उत्तर से आर्य-आक्रमण के प्रतिकूल अन्य बाधाएँ भी हैं। एक तो दुर्गम हिमालय को पार करने की असंभव कठिनाई है; और दूसरे भारतीय आर्यों और हिमालय पार के मंगोलों में कोई जातिगत साम्य नहीं है।

३—पार्जिटर के मत से मानव लोग द्रविड़ जाति के थे और सौद्युम्न, मुंडा-मानख्मेर जाति के।[१६] मानव जाति के संबंध में उनका मुख्य तर्क यह है कि पुराणों

१४—वही पृ० २९८ १६—वही, पृ० २९७

१५—वही, पृ० १८८

में मानवों का ऐलों से (आर्यों) से भिन्न जाति के रूप में वर्णन हुआ है और वे ऐलों के पहले ही से भारत में रहते थे। उनके विचार से आर्यों के पहले के लोग द्रविड़ थे। इससे पहले तो मानवों का ऐलों से भिन्न जाति के रूप में वर्णन ही नहीं हुआ है। उनमें बराबर आपस में वैवाहिक संबंध होते थे जो जाति-साम्य का ही सूचक है। जाति, भाषा और धर्म की दृष्टि से दोनों समान ही कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त भारत में द्रविड़ों का केंद्र आजकल की भाँति अतीत में भी दक्षिण में ही था जहाँ वे से कालांतर में युद्ध, व्यापार आदि के प्रसंग से उत्तर भारत में आए। अतः उत्तर में उनका मूल स्थान ढूँढ़ना सर्वथा अनावश्यक है।

सौद्युम्नों के संबंध में पार्जिटर का विचार है कि वे दक्षिण-बिहार और उड़ीसा में राज्य करते थे, इसलिये वे मुंडा-मानख्मेर जाति के थे। किंतु पुराणों में सौद्युम्नों का मानवों के ही एक उपकुल के रूप में वर्णन हुआ है जिसका मानवों के साथ विवाह-संबंध होता था। सौद्युम्न लोग बिहार-उड़ीसा के पर्वतों तथा अरण्यों में बसनेवाले उन मुंडा-मानख्मेर लोगों से बिलकुल भिन्न थे जो अपनी जातिगत विशेषताओं को आज भी उसी रूप में बनाए हुए हैं।

पौराणिक साक्ष्य और वेद

पौराणिक साक्ष्यों का वेदों में आए हुए आनुषंगिक उल्लेखों से पूर्ण समर्थन होता है। वास्तव में वैदिक उल्लेखों का तात्पर्य पौराणिक इतिहास के ही प्रसंग में ठीक ठीक समझा जा सकता है। भारतीय अनुश्रुतियों से भी इस बात की पुष्टि होती है। यथा—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥[१८]

अर्थात् सांगोपनिषद् वेदज्ञ द्विज भी पुराण-ज्ञान के बिना विचक्षण नहीं माना जा सकता। इतिहास-पुराण की सहायता से वेदों का समुपबृंहण (व्याख्या, अर्थ-विस्तार) करना चाहिए। अल्पश्रुत से तो वेद डरता है कि वह मुझपर प्रहार करेगा।

१८—पद्मपु० ५।२।५०—२

वेदों और पुराणों में निम्नलिखित समानोक्तियाँ विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य हैं—

१—पुराणोल्लिखित पश्चिमोत्तर की ओर बढ़नेवाले प्रायः सभी आर्यकुलों और राजाओं का वेदों में उल्लेख हुआ है। किंतु वेदों के आधार पर हम उनके कालक्रम तथा स्थान का निश्चय नहीं कर सकते और पुराणों में एतत्संबंधी वर्णन पाए जाते हैं। पुराणों में ययाति के पाँच पुत्रों और उनके अन्वधिकारियों—पुरु, यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु—का इतिहास वर्णित है; वेदों में उनके वंशजों—अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु, यदु तथा पुरुओं—का उल्लेख हुआ है।[३९]

२—पुराणों में पांचाल राजा सुदास और पंजाब के राजाओं के बीच युद्धों का वर्णन है। वेदों में भी सुदास तथा पंजाब की दस जातियों के बीच हुए दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन है।[४०]

३—पुराणों में आर्यों के मध्यदेश से उत्तर-पश्चिम की ओर प्रसार का व्यवस्थित वर्णन पाया जाता है। ऋग्वेद में भी उसके नदी-विषयक मंत्र में आर्यों के क्रमशः गंगा, कुभा (काबुल), गोमती (गोमल) और क्रमु (कुर्रम) नदियों को पार कर अपने रथों और घोड़ों सहित पश्चिम की ओर बढ़ने का स्पष्ट निर्देश है।[४१]

इस संबंध में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऋग्वेद में नदियाँ पूर्व से पश्चिम की ओर गिनाई गई हैं, जो आर्यों के बढ़ाव की दिशा का द्योतक है।[४२] खेद है कि आर्यों की विदेशी उत्पत्ति के मत के समर्थक इस तथ्य की उपेक्षा कर जाते हैं और उत्तर-पश्चिम की ओर से आर्य-आक्रमण सिद्ध करने के लिये इसी मंत्र का आधार लेते हैं।

३९—ऋग्वेद ७।१३।२,५; ८३।८

४०—वही ७।३३।८३ ४१—वही १०।७५

४२—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया। तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या॥ त्वं सिन्धो कुभया गोमती क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे। ऋजीत्येनी रुशती परिज्रयांसि भरते रजांसि॥

—ऋग्वेद, १०।७५।५६

४—मध्यदेश से पश्चिम और दक्षिण बढ़ते हुए आर्यों को जिन अनार्य जातियों से युद्ध करना पड़ा उन्हें पुराणों में असुर, दानव, राक्षस, पिशाच आदि कहा गया है। ये सभी नाम वेदों में भी पाए जाते हैं।

पुराण और भाषाशास्त्र

आर्य जाति की आदि भूमि के संबंध में भाषाशास्त्रियों की मुख्य स्थापना यह है कि पूर्व में गंगा से पश्चिम में आयरलैंड तक फैली हुई भारोपीय भाषा में कुछ निश्चित पारिवारिक समानता है जो भारत-यूरोपीय आर्यों की एक सामान्य आदि भूमि का सूचक है। भाषाशास्त्रियों के भिन्न भिन्न संप्रदाय इस आदि भूमि को भिन्न भिन्न स्थानों में, जैसे मध्यएशिया, मेसोपोटामिया तथा यूरप के कतिपय केंद्रों में बतलाते हैं। इसके लिये उनका मुख्य आधार उक्त भाषाओं में पाए जानेवाले सामान्य शब्दों पर से किया गया अनुमान है। यह अनुमान कितना अनिश्चित और बलहीन है, यह एतत्संबंधी भिन्न भिन्न सिद्धांतवादियों के मतभेदों से स्पष्ट है। लेखक के विचार से भारोपीय जातियों के भाषा-साम्य का प्रश्न पुराणों की सहायता से संतोषजनक रीति से सुलझाया जा सकता है और विद्वानों के मतभेदों का भी निराकरण किया जा सकता है। पुराण अत्यंत स्पष्ट शब्दों में बतलाते हैं कि आर्यों का अभ्युदय मध्यदेश में हुआ और यहीं से वे भारत के भिन्न भिन्न भागों में फैले। यहीं से पश्चिम की ओर जाकर उन्होंने पंजाब, सीमाप्रांत तथा काबुल की घाटी पर अधिकार किया। जो लोग अधिक साहसी थे उन्होंने और आगे बढ़कर मध्य तथा पश्चिम एशिया में उपनिवेश बनाए। भूमध्य सागर तक पहुँचने पर उनका संपर्क यूरोपीय जातियों से हुआ। पुराणों में वर्णित आर्यों के उक्त-विध प्रसार को मान लेने से एशिया और यूरप की भिन्न भिन्न भाषाओं में पाए जानेवाले संस्कृत-मूलक शब्दों तथा भारतीय और ईरानी भाषाओं के बीच निकट संबंध की समस्या अपने आप सुलझ जाती है। भाषाशास्त्र अनुमान का आश्रय अधिक लेने के कारण अनिश्चयात्मक है। परंतु पुराणों का साक्ष्य अनुमान पर नहीं, प्रत्युत तथ्यों के स्पष्ट वर्णन पर अवलंबित है, अतः वह भाषाशास्त्र की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है।

समीक्षा

काव्यालोचन के सिद्धांत—लेखक श्री शिवनंदन प्रसाद एम० ए०, साहित्यरत्न; भूमिका-लेखक—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी; प्रकाशक—ग्रंथमाला कार्यालय, पटना; पृष्ठ संख्या १६०+४४+१०; मूल्य २॥)

पुस्तक का विषय नाम से ही प्रकट है। इसमें काव्य की आलोचना के सिद्धांतों का निरूपण है। लेखक का यह कथन यथार्थ है कि "हिंदी में सैद्धांतिक आलोचना से संबंध रखनेवाली अनेक पुस्तकें निकल रही हैं, पर संपूर्ण काव्यशास्त्र का विवेचन करनेवाला कोई एक ऐसा ग्रंथ अभी तक प्रस्तुत नहीं हो पाया जो मौलिक होने के साथ-साथ साहित्य के विभिन्न तत्त्वों की गहरी छानबीन करे।" अभी ऐसा होने के कोई लक्षण भी समीक्षक को नहीं दिखाई पड़ रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक लिखने की प्रेरणा लेखक को काव्यशास्त्र के विविध पहलुओं से हिंदी विद्यार्थियों को परिचय करानेवाले और काव्यालोचन के लिये सुनिश्चित व्यावहारिक मानदंड प्रदान करनेवाले ग्रंथों के अभाव के कारण हुई। यह पुस्तक उस अभाव की पूर्ति नहीं है, न लेखक का ऐसा दावा ही है, पर इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि यह 'इस दिशा में हिंदी के विद्यार्थियों की थोड़ी सहायता करने का और इस विषय के अधिकारी विद्वानों का इधर ध्यान आकर्षित करने का' प्रशंसनीय प्रयास है।

इस पुस्तक में छः अध्याय हैं—हिंदी आलोचना का इतिहास, समालोचना-शास्त्र, भारतीय काव्यशास्त्रों का ऐतिहासिक विकास, कुछ विशिष्ट काव्य-सिद्धांतों के सैद्धांतिक रूप, काव्य (कविता) और काव्योत्कर्ष की कसौटी। अंत में चार परिशिष्टों में शब्दशक्ति, रस, अलंकार और छंदों का भी वर्णन है। संक्षेप में बी० ए० या समकक्ष परीक्षा के विद्यार्थियों के लिये सैद्धांतिक आलोचना संबंधी जानकारी एकत्र रखने का प्रयत्न किया गया है। संभवतः इसी कारण अनेक विषयों का विस्तृत विवेचन नहीं हो सका है और किन्हीं का केवल नामोल्लेख मात्र कर देना पड़ा है। वर्गीकरण पर अधिक ध्यान दिया गया है। रस-पद्धति को संभवतः आधुनिक आलोचना के लिये उपयोगी न समझकर गौण रूप से परिशिष्ट में उसकी चर्चा की गई है। आधुनिक आलोचना से उसका मेल नहीं हो सका है। पुस्तक में पाश्चात्य समीक्षा पर आधृत आधुनिक वादों और पद्धतियों का मुख्यतः विवेचन है। वादों

में इच्छाकाव्य और छंदों में रवर छंद तक की प्रतिष्ठा की गई है। पंडित रामचंद्र शुक्ल की पद्धति किंचित् विस्तार के साथ दी गई है। काव्योत्कर्ष की कसौटी में अनेक दृष्टियों से काव्य को परखने की विधि दी गई है, यद्यपि किसी एक समन्वित दृष्टि का अभाव है। पर सब मिलाकर, प्राचीन रूढ़िवाद और आधुनिक संकीर्ण वादों के बीच लेखक की दृष्टि स्वस्थ एवं अपने क्षेत्र के भीतर सुस्पष्ट है। विषय-संग्रह की दृष्टि से पुस्तक विद्यार्थियों के लिये अधिक उपयोगी है।

मुद्रण के संबंध में भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है। हिंदी के पाठक मुद्रण की भूलों के अभ्यस्त हैं, अधिकांश हिंदी मुद्रक इसे अपना प्रकृत अधिकार मानते हैं। अतः 'उदाहण' (पृ० १३२), 'रदस-शा' (पृ० १४०), आदि को 'उदाहरण' और 'रसदशा' समझने में प्रयास नहीं करना पड़ेगा। पर 'भृत्यानुप्रास' (पृ० ४८१), 'जो चीज प्रस्तुत किये जायँ' (पृ० १४६), 'वादों की चौखटे में उसे सदा 'फीट' नहीं किया जा सकता'—इस प्रकार के उदाहरण विरसता उत्पन्न करते हैं। और 'वक्' (=वक्तृ, पृ० १७२), 'उपपत्तिवाद' (उत्पत्तिवाद, पृ० १७९), 'अनुमितिवाद' (अनुमितिवाद, पृ० १७९), 'मुक्तिवाद' (भुक्तिवाद, पृ० १७९) जैसी अशुद्धियाँ विरसता उत्पन्न करने के साथ साथ विद्यार्थी को भ्रम में डालनेवाली हैं। आशा है अगले संस्करण में ऐसी एक भी भूल न रहने दी जायगी।

—विश्वप्रसाद।

हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ—संपादक अखिल विनय, श्री गंगाराम वर्मा चंचल, प्रकाशक हिंदी साहित्य समिति, बिड़ला कालेज, पिलानी (जयपुर); मूल्य १॥)

लोग कहते हैं कि हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं की इन दिनों बाढ़ आ गई है पर सच्ची बात तो यह है कि हिंदी भाषाभाषियों की जन-संख्या और देश का विस्तार देखते हुए ऐसा कहना भूल है। वर्तमान सभ्य देशों में तो लाखों पत्र प्रातः-सायं निकलते हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं के अतिरिक्त भिन्न भिन्न व्यवसायों से संबंध रखनेवाली पत्रिकाएँ भी निकलती हैं। खेतिहर, ग्वाले, मोची, लोहार आदि साधारण समाचारपत्र तो पढ़ते ही हैं, उनकी अपनी अपनी अलग-अलग भी हजारों पत्रिकाएँ हैं। वहाँ पत्रकारों को विधिवत् शिक्षा देने की भी योजना है। हिंदी में तो अभी तक जो कुछ हुआ है, बहुत ही कम है। भारतेंदुजी, आचार्य द्विवेदी जी और कुछ थोड़े से अग्रगण्य विद्वानों तथा कांग्रेस और आर्यसमाज ऐसी संस्थाओं की कृपा से आज वह दिन अवश्य आ गया है कि हिंदी में पत्रकारिता एक प्रतिष्ठित व्यवसाय हो गया है।

यह कैसे हुआ, कहाँ हुआ, कब हुआ, किसने किया इन सब बातों पर इस पुस्तक के संपादकों ने अच्छा प्रकाश डाला है। जिस समिति ने यह पुस्तक प्रकाशित की है वह स्वर्गीय श्री महादेव देसाई की स्मृति में, जो स्वयं उच्चकोटि के पत्रकार थे, स्थापित हुई है। श्री कन्हैयालाल सहल का "हिंदी पत्रों के सवा सौ वर्ष" और आचार्य श्री नित्यानंद सारस्वत का "विदेशों में हिंदी पत्र"—ये दोनों लेख बड़े महत्त्व के हैं। लेखकों ने बड़ी खोज से काम लिया है। पुस्तक में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक पत्रों के नाम, दाम, सन् आदि दे दिए गए हैं। साथ ही ऐतिहासिक बालकोपयोगी, महिलोपयोगी, धार्मिक आदि पत्र-पत्रिकाओं की सूची दे दी गई है जिनमें से कई बंद हो गई हैं और कई चल रही हैं। स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के अफ्रीका में 'हिंदी' नाम के पत्र का तो पुस्तक में उल्लेख है पर काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा पं० चंद्रबली पांडेय के संपादकत्व में प्रकाशित 'हिंदी' नाम की मासिक पत्रिका का उल्लेख नहीं है, जो सं० १९९७ से २००० तक निकली थी और जिसका वार्षिक मूल्य पहले केवल ॥) और पीछे ।॥) था। पं० केशवदेव शास्त्री ने काशी में 'नवजीवन' पत्र निकाला था जिसका समय शायद सन् १९१० से १९१२ था। समाज-सुधार संबंधी स्वतंत्र विचारों के लिये उसकी बड़ी ख्याति हुई थी। महामना पं० मदनमोहन मालवीय के तत्त्वावधान में पं० सीताराम चतुर्वेदी ने 'सनातनधर्म' नाम का एक पत्र शायद १९३२ से १९३० तक निकाला था। इन दोनों का भी उल्लेख नहीं है।

यहाँ यह भी बतला देना चाहिए कि काशी के जिस 'सुदर्शन' पत्र का इस पुस्तक में उल्लेख है वह लहरी प्रेस में छपता था और उसके संपादक पं० माधवप्रसाद मिश्र थे जिनसे एक बेर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से बड़ा रोचक और विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थ छिड़ गया था जिसके कारण 'सरस्वती' और 'सुदर्शन की माँग बढ़ गई थी।

जो कुछ हो, इस पुस्तक के संपादकों को जितनी सामग्री उपलब्ध हुई है उसका उन्होंने प्रशंसनीय उपयोग किया है। पत्रों की वर्णानुक्रम सूची से पता चलता है कि एक ही नाम के कई पत्र भिन्न-भिन्न स्थानों से समय-समय पर निकले हैं। नगर-क्रम से दी हुई सूची से मालूम हो जाता है कि किस नगर को कब और कितने पत्र निकालने का श्रेय प्राप्त है।

—राम।

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों की सूची स्थानाभाव के कारण इस अंक में नहीं दी जा सकी। यह आगामी अंक में प्रकाशित होगी। —संपा०—

विविध

'पत्रिका, वर्ष ५४

इस पत्रिका के तेंतालिसवें वर्ष में प्रवेश के अवसर पर हमने इसकी पूर्वसेवाओं के सिंहावलोकन के साथ इसे 'और उपयोगी सिद्ध' करने, 'इसके द्वारा और व्यापक अनुशीलन तथा विवेचनाएँ प्रस्तुत' करने के निमित्त इसके उद्देश्यों तथा स्वरूप के नवनिश्चय का निवेदन किया था। उन्हीं उद्देश्यों की छाया में शक्ति-परिस्थिति-वश न्यूनाधिक अनुरूपता से पत्रिका के पिछले ग्यारह वर्ष पूरे हुए हैं। इस बीच इसके द्वारा उन उद्देश्यों की जितनी पूर्ति हुई है, एवं गत तिरपन वर्षों में इससे जैसी सेवा बनी है, उतनी और वैसी ही यह कृतकृत्य है।

पत्रिका का यह चौवनवाँ वर्ष, हमें सविश्वास आशा है कि, भारत तथा नागरी-हिंदी के लिये अपूर्व विधान-व्यवस्था, प्रतिष्ठा एवं अपूर्व उत्तरदायित्व के उदय का वर्ष होगा, जिसमें सर्वथा भारत निजभाग्य-विधाता बनेगा और हिंदी उसकी विधात्री भारती। इस उदय में भारतीय अनुशीलन को स्वतंत्र, सर्वमुख प्रगति का और हिंदी को उसके लिये समर्थ माध्यम बनने का संक्रांत संकल्प सँभालना होगा। निश्चय ही भारत-हिंदी या भारत-भारती के मानी-व्रती इस संकल्प को यथेष्ट सँभालेंगे, सिद्ध करेंगे। ऐसे संकल्प से ही प्रेरित हम पत्रिका के ये उद्देश्य रहे हैं :

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

इस अवसर पर पुनः हम उस संकल्प के स्मरण के साथ इन उद्देश्यों का ध्यान तथा पत्रिका को इनके यथासंभव अनुरूप प्रस्तुत करने का विनीत समारंभ करते हैं। इस नवसमारंभ में हम सहृदय पाठकजन तथा विद्वज्जन का सादर आमंत्रण करते हैं और आशंसन करते हैं कि उनके सद्भाव और सहयोग से इस पत्रिका के द्वारा उक्त संकल्प तथा उद्देश्यों की उत्तरोत्तर पूर्ति एवं भारत हिंदी की अधिकाधिक सेवा सिद्ध हो।

भारतीय संघ की भाषा

भारतीय संविधान परिषद् द्वारा नागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिंदी भाषा के संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकृत हो जाने से अब उस दशकों से चलते हुए अप्रिय विवाद का अंत हो गया जो देश के भिन्न भिन्न भाषाभाषी वर्गों के बीच घातक द्वेष एवं संघर्ष का कारण बनता जा रहा था। भारतीय इतिहास की यह एक असाधारण महत्त्वपूर्ण घटना है। इतने विशाल क्षेत्र एवं जनसमूह के लिये इस देश में कभी कोई एक देशभाषा राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई हो, ऐसा इतिहास से विदित नहीं होता। यह अपूर्व हर्ष और गौरव केवल हिंदीभाषियों अथवा हिंदीप्रचारकों का नहीं, प्रत्युत भारतीय राष्ट्र के प्रत्येक हितचिंतक एवं समस्त प्रजाजन का है। प्रायः अर्धशताब्दी से जिन व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने इस महान् तथा पावन उद्देश्य की सिद्धि के लिये उद्योग किया, त्याग-तपस्या की, वे सभी तथा भारतीय संविधान-परिषद् के सदस्य हमारे हार्दिक धन्यवाद और बधाई के पात्र हैं।

संविधान के भाषासंबंधी अंश का एक चलता अनुवाद यह है—

भाग १४ क

अध्याय १

संघ की भाषा

३०१ क—(१) संघ की सरकारी भाषा देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी होगी। संघ की सरकारी भाषा

संघ के सरकारी कार्यों में प्रयुक्त होनेवाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप होगा।

(२) इस अनुच्छेद के खण्ड (१) की किसी बात को बाधित न करते हुए, इस संविधान के प्रारंभ के समय से १५ वर्ष की अवधि तक, उन सभी सरकारी कार्यों के लिये अंग्रेजी का प्रयोग होता रहेगा जिनके लिये वह उक्त समय में प्रयुक्त होती थी।

प्रतिबंध यह है कि राष्ट्रपति उक्त अवधि में संघ के किसी कार्य के लिये अंग्रेजी भाषा के

साथ साथ हिंदी भाषा और भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप के साथ साथ देवनागरी अंकों के प्रयोग का भी अधिकार अपनी आज्ञा द्वारा प्रदान कर सकते हैं।

(२) इस अनुच्छेद की किसी बात को बाधित न करते हुए, उक्त १५ वर्षों की अवधि के बाद पार्लमेंट कानून द्वारा, ऐसे कार्यों के लिये जिनका कि उस कानून में विनिर्देश किया गया हो,

(क) अंग्रेजी भाषा या

(ख) देवनागरी अंकों

के प्रयोग की व्यवस्था कर सकती है।

सरकारी भाषा पर पार्लमेंट का कमीशन और समिति

३०१ ख—(१) इस संविधान के संप्रयोग के समय से ५ वर्ष बीतने पर और उसके बाद उक्त समय से १० वर्ष बीतने पर राष्ट्रपति अपनी आज्ञा द्वारा एक कमीशन बनाएँगे जिसमें एक अध्यक्ष और राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त ऐसे अन्य सदस्य होंगे जो अनुसूची ७ में विनिर्दिष्ट भिन्न भिन्न भाषाओं का प्रतिनिधित्व करेंगे। उक्त आज्ञा में कमीशन की कार्यविधि का भी स्पष्ट उल्लेख रहेगा।

(२) कमीशन का यह कर्तव्य होगा कि निम्नलिखित बातों के संबंध में राष्ट्रपति से सिफारिश करे—

(क) संघ के सरकारी कार्यों के लिये हिंदी भाषा का अधिकाधिक प्रयोग;

(ख) संघ के किसी या सभी सरकारी कार्यों के लिये अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर प्रतिबंध;

(ग) इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ क में कथित किसी कार्य या सभी कार्यों के लिये प्रयोज्य भाषा;

(घ) संघ के एक या अधिक विनिर्दिष्ट कार्यों के लिये प्रयोज्य अंकों का रूप;

(ङ) संघ की सरकारी भाषा और अंतर्प्रांतीय व्यवहार की भाषा तथा उनसे संबंध रखने वाले कोई अन्य विषय जिन्हें राष्ट्रपति कमीशन के पास भेजें।

(३) इस अनुच्छेद के वाक्य २ के अंतर्गत सिफारिशें करने में कमीशन भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति का और सरकारी नौकरियों के संबंध में अहिंदीभाषी क्षेत्रों की उचित माँगों और स्वार्थों का समुचित ध्यान रखेगा।

(४) ३० सदस्यों की एक समिति बनाई जायगी जिसमें २० लोकसभा के और १० राज्यपरिषद् के सदस्य होंगे। ये सदस्य क्रमशः लोकसभा और राज्यपरिषद् के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार एक-परिवर्त्य मत द्वारा चुने हुए होंगे।

(५) समिति का कर्तव्य होगा कि वह इस अनुच्छेद के अंतर्गत बनाए गए कमीशन की सिफारिशों की जाँच करके उनपर राष्ट्रपति को अपनी सम्मति निवेदित करे।

(५) इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ क में सन्निविष्ट किसी बात का विरोध न करते हुए राष्ट्रपति इस अनुच्छेद के वाक्य (४) में उल्लिखित सम्मति पर विचार करने के बाद पूरी या आंशिक सम्मति के अनुसार आदेश जारी कर सकते हैं।

अध्याय २

प्रादेशिक भाषाएँ

किसी प्रांत की सरकारी भाषा या भाषाएँ

३०१ ग—अनुच्छेद ३०१ च और ३०१ छ की व्यवस्थाओं के अधीन, कोई प्रांत, उस प्रांत में प्रयुक्त किसी भाषा को या हिंदी को, कानून द्वारा, उस प्रांत के किसी या सभी सरकारी कार्यों के लिये प्रयोज्य भाषा या भाषाओं के रूप में रख सकता है।

प्रतिबंध यह है कि जब तक उस प्रांत की व्यवस्थापिका कानून द्वारा अन्य व्यवस्था न करे तब तक अंग्रेजी भाषा उस प्रांत के भीतर उन सभी सरकारी कार्यों के लिये प्रयुक्त होती रहेगी जिनके लिये वह इस संविधान के संप्रयोग के समय प्रयुक्त होती थी।

प्रांतो के परस्पर व्यवहार तथा प्रांतों और संघ के बीच व्यवहार की सरकारी भाषा

३०१ घ—संघ में अभी सरकारी कार्यों में प्रयोग के लिये अधिकृत भाषा वही रहेगी जो प्रांत-प्रांत के बीच और प्रांत और संघ के बीच व्यवहार की सरकारी भाषा होगी।

प्रतिबंध यह है कि यदि दो या अधिक प्रांत यह स्वीकार करें कि उनके परस्पर व्यवहार की सरकारी भाषा हिंदी हो तो वह भाषा ऐसे व्यवहार के लिये प्रयुक्त हो सकेगी।

३०१ ङ—जब किसी प्रांत के काफी बड़े जनवर्ग की ओर से माँग किए जाने पर राष्ट्रपति को यह विश्वास हो कि वह जनवर्ग अपने द्वारा बोली जानेवाली किसी भाषा को राष्ट्र से स्वीकृत कराने का इच्छुक है, तो वे आदेश दे सकते हैं कि वह भाषा उस प्रांत भर में या उसके किसी भाग में सरकारी तौर पर ऐसे कार्य के लिये स्वीकृत की जाय जिसका वे विनिर्देश करें।

अध्याय ३

सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों आदि की भाषा

सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में प्रयोग की तथा बिलों और कानूनों की भाषा

३०१ च—(१) इस भाग की पूर्वोक्त व्यवस्थाओं में सन्निविष्ट किसी बात को बाधित न करते हुए, जब तक पार्लामेंट कानून द्वारा अन्य व्यवस्था न करे तब तक —

(क) सर्वोच्च न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय में सभी कार्य

(ख) तथा

[१] पार्लामेंट की किसी सभा में या किसी प्रांत की किसी व्यवस्थापिका में उपस्थित किए जानेवाले बिलों या उनके संशोधनों,

[२] पार्लामेंट या किसी प्रांत की व्यवस्थापिका द्वारा पास किए हुए सभी कानूनों और राष्ट्रपति या किसी गवर्नर या शासक द्वारा जारी किए हुए सभी आर्डिनेंसों, जिनका प्रसंग हो,

[३] संविधान के अंतर्गत अथवा पार्लामेंट या किसी प्रांत की व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए किसी कानून के अंतर्गत जारी की हुई सभी आज्ञाओं, नियमों, उपनियमों और उपकानूनों,

के प्रामाणिक वाचन अंग्रेजी भाषा में होंगे।

(२) इस अनुच्छेद के वाक्य (१) के उपवाक्य (क) में उल्लिखित कोई बात किसी प्रांत के लिये, उसके उच्च न्यायालय में निर्णयों, डिग्रियों और आदेशों को छोड़कर अन्य कार्यों के लिये, राष्ट्रपति की अनुमति से, हिंदी भाषा को अथवा उस प्रांत के सरकारी कार्यों के लिये स्वीकृत किसी अन्य भाषा को नियत करने में बाधक नहीं होगी।

(३) इस अनुच्छेद के वाक्य (१) के उपवाक्य (ख) में सन्निविष्ट किसी बात को बाधित न करते हुए, जब किसी प्रांत की व्यवस्थापिका बिलों, विधानों, आर्डिनेंसों और कानून का बल रखनेवाली आज्ञाओं तथा उक्त उपवाक्य में निर्दिष्ट नियमों के लिये अंग्रेजी से भिन्न किसी अन्य भाषा का प्रयोग विहित कर दे तो उसका गवर्नर द्वारा या राज्य के शासक द्वारा प्रमाणित अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया जायगा और वही इस अनुच्छेद के अंतर्गत उसका अंग्रेजी भाषा का प्रामाणिक वाचन माना जायगा।

३०१ ग—इस संविधान के संप्रयोग के समय से १५ वर्ष की अवधि के भीतर कोई भी बिल या संशोधन जिसमें इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ ब के वाक्य १ में कथित किसी कार्य के लिये प्रयोज्य भाषा के संबंध में व्यवस्था दी होगी, राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना पार्लामेंट की किसी सभा में उपस्थित नहीं किया जायगा, और राष्ट्रपति इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ ख के अंतर्गत बनाए गए कमीशन की सिफारिशों तथा उस अनुच्छेद में निर्दिष्ट समिति की सम्मति पर विचार किए बिना, ऐसे बिलों या संशोधनों को उपस्थित करने की स्वीकृति नहीं देंगे।

अध्याय ४

विशेष आदेश

शिकायतें दूर कराने के लिये आवेदन पत्र की भाषा

३०१ अ—प्रत्येक व्यक्ति को, किसी शिकायत को दूर कराने के लिये, संघ या प्रांत के किसी अफसर या अधिकारी को, संघ या प्रांत में—जिसका प्रसंग हो—प्रयुक्त किसी भाषा में आवेदनपत्र देने का अधिकार होगा।

हिंदी के विकास के लिये आदेश

३०१ आ—संघ का कर्तव्य होगा कि वह हिंदी का प्रचार बढ़ाए और उसे इस प्रकार विकसित करे जिससे वह भारत की समिश्र संस्कृति के सभी वर्गों के विचार-प्रकाशन का साधन बन सके। हिंदी को समृद्ध बनाने के लिये वह उसकी स्वाभाविक शक्ति को नष्ट किए बिना उसमें हिंदुस्तानी और भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूपों, शैलियों और अभिव्यक्तियों का समावेश करे तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ मुख्यतः संस्कृत और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करे।

अनुसूची ७ क

[अनुच्छेद ३०१ अ]

१—असमिया। २—बंगाली। ३—कन्नड़। ४—गुजराती। ५—हिंदी। ६—कश्मीरी। ७—मलयालम्। ८—मराठी। ९—उड़िया। १०—पंजाबी। १० क—संस्कृत। ११—तामिल। १२—तेलेगु। १३—उर्दू।

यद्यपि संविधान के उपर्युक्त भाषासंबंधी अंश का स्वीकार अनेक ननु-नच एवं किंतु-परंतु के साथ हुआ, तथापि संविधान के स्वीकृत हो जाने पर अब हमें मानना चाहिए कि परिस्थितिवश वही स्वाभाविक था और उसी रूप में वह हमारे लिये ग्राह्य है। उसके आधार पर अब हमें आगे का पथ निश्चित करना आवश्यक है। हिंदी-हितैषियों का कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ, वस्तुतः उनका उत्तरदायित्व और कर्तव्य-भार अब पहले से कई गुना अधिक बढ़ गया है। इस दृष्टि से उन भाषा-अनुच्छेदों की व्यापकता पर विचार करने की आवश्यकता है।

संविधान के भाषासंबंधी अंश की दो बातों पर विशेष और व्यापक रूप से असंतोष प्रकट किया गया है—एक तो यह कि हिंदी भाषा और नागरी लिपि के साथ अंक नागरी के न रखकर अंग्रेजी के ही—यद्यपि उन्हें भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप कहा गया है—रखे गए हैं; दूसरे, संविधान के संप्रयोग के समय से १५ वर्ष

की अवधि तक उन सभी सरकारी कार्यों में अंग्रेजी का प्रयोग होता रहेगा जिनमें वह उक्त समय में प्रयुक्त होती थी। निष्पक्ष विचार से, इसमें कोई संदेह नहीं कि यह असंतोष वास्तविक और उचित है। वस्तुतः अनुच्छेद ३०१ क (१) के प्रथम वाक्य के साथ उक्त दोनों बातों का कोई तुक, कोई सामंजस्य नहीं। हिंदी भाषा और नागरी लिपि के साथ उसके अपने नागरी अंक ही होने चाहिएँ—इसके विरुद्ध कोई ठोस और संगत तर्क उपस्थित नहीं किया गया, न किया ही जा सकता। किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है, जो हुआ, परिस्थितवश वही स्वाभाविक था; वह हमारे वर्त्तमान सामाजिक और राजनीतिक जीवन की विविध असमंजसताओं तथा बेतुकेपन का ही प्रतीक है। अंतः राष्ट्र के हित को देखते हुए विषम विरोध के समक्ष आवश्यक समझौते के रूप में जो स्वीकृत हुआ वह संप्रति हमारे लिये मान्य है। अब यह हमारे उचित प्रयत्न पर ही निर्भर है कि नागरी लिपि के साथ अंग्रेजी अंकों का यह संबंध स्थायी हो, अथवा शीघ्र से शीघ्र उनके स्थान पर नागरांकों को प्रतिष्ठित किया जाय।

१५ वर्ष की अवधि के संबंध में भी प्रायः यही बात कही जा सकती है। इतनी लंबी अवधि का अड़ंगा व्यर्थ है। स्वतंत्र राष्ट्र और उसकी एक अपनी स्वतंत्र भाषा के बीच विदेशी भाषा का एक दिन, एक क्षण का भी व्यवधान असह्य है। परंतु जो लोग हिंदी का विरोध करने पर तुले हुए थे—चाहे यह विरोध किसी भी कारण से हो—उनका ध्यान सर्वथा न रखने से देश को विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ सकता था, अतः उनके साथ समझौता अनिवार्य था। परंतु अनुच्छेद ३०१ क (३) में १५ वर्ष की अवधि पर भी संतोष न कर पार्लामेंट को अधिकार दिया गया है कि १५ वर्ष के बाद भी वह कानून द्वारा कुछ कार्यों में अंग्रेजी के प्रयोग की व्यवस्था कर सकती है। यह तो हिंदी के शक्ति-सामर्थ्य के प्रति और व्यापक अविश्वास तथा हिंदी-विरोधियों का अधिकाधिक परितोष करने की वृत्ति का ही परिचायक है।

हिंदी-समर्थकों की ओर से इस बात पर बहुत ज़ोर दिया गया है कि १५ वर्ष के बदले उक्त अवधि ५ वर्ष या अधिक से अधिक १० वर्ष की होनी चाहिए थी। इससे असहमत होने का कोई भी उचित कारण नहीं हो सकता। परंतु अब हम अनुच्छेद ३०१ क (२) पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता समझते हैं, जिसमें

कहा गया है कि "राष्ट्रपति उक्त अवधि में संघ के किसी कार्य के लिये अंग्रेजी भाषा के साथ साथ हिंदी भाषा, और भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप के साथ साथ देवनागरी अंकों के प्रयोग का भी अधिकार अपनी आज्ञा द्वारा प्रदान कर सकते हैं।" इसमें इस बात के लिये पर्याप्त अवकाश है कि अंग्रेजी भले ही साथ साथ चलती रहे, परंतु नागरी अंकों सहित नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा अवधि के भीतर ही अपने पद पर पूर्णतः प्रतिष्ठित हो सकती है; और ऐसा हो जाते ही संघीय पद पर अंग्रेजी का बने रहना स्वतः अनावश्यक हो जायगा। परंतु इसके लिये निरालस्य भाव से समुचित दिशा में निरंतर प्रयत्न अपेक्षित है; क्योंकि ऐसा होना राष्ट्रपति की अनुकूल आज्ञा पर निर्भर है और राष्ट्रपति की आज्ञा अनुच्छेद ३०१ ख में उल्लिखित कमीशन की सिफारिशों तथा समिति की सम्मति पर अवलंबित होगी। उक्त अनुच्छेद के अनुसार संविधान संप्रयुक्त होने से ५ वर्ष के बाद नियुक्त कमीशन हिंदी के संबंध में क्या सिफारिशें करेगा और समिति उसपर कैसी सम्मति देगी यह बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर है कि उस समय तक हिंदी के विकास और प्रचार में कितनी वृद्धि हुई तथा अहिंदीभाषी देशवासियों ने उसे कहाँ तक अपनाया। यदि उनकी ओर से उस समय भी हिंदी का विरोध आज का सा ही बना रहा तो अंग्रेजी की आयु बढ़ती ही जायगी!

यह संतोष की बात है कि संविधान में संघीय भाषा के अतिरिक्त प्रांतों के आंतरिक तथा पारस्परिक व्यवहार की भाषा के संबंध में अवधि का कोई बंधन नहीं रखा गया है। अनुच्छेद ३०१ ग तथा घ के अनुसार कोई भी प्रांत जब चाहे कानून द्वारा हिंदी को अपनी राजभाषा बना सकता है और दो या अधिक प्रांत अपने पारस्परिक व्यवहार की भाषा भी हिंदी को बना सकते हैं।

हिंदी के संघीय भाषा घोषित होने के साथ साथ यह अत्यंत स्वाभाविक तथा आवश्यक था कि उसके विकास एवं प्रचार का दायित्व भी संघ पर रखा जाय, जैसा अनुच्छेद ३०१ क में किया गया है। किंतु उस उपसंहार में हिंदी के स्वरूप का निर्देश करते हुए 'हिंदुस्तानी' का उल्लेख किया गया है, जब कि संविधान में स्वीकृत भाषाओं की सूची में उसका कोई अस्तित्व स्वीकृत नहीं है! अभिप्राय तो उस ओट में उर्दू से ही रहा। अच्छा होता

उसका ही उक्त सूची के अनुसार स्पष्ट नामोल्लेख होता। तब उस उल्लेख का कुछ अर्थ भी होता।

परंतु मौलिक तथ्य यह है कि प्रस्तुत संविधान के द्वारा '*देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी*' भारत की राजभाषा स्वीकृत हुई है। यह वस्तुतः अपूर्व स्वीकृति और अपूर्व अवसर है। अब इससे यथेष्ट लाभ संपादित होना, निकट ही भविष्य में नागरी-हिंदी का भारत की यथार्थ भारती सिद्ध होना हिंदीभक्तों एवं भारतभक्तों की सद्बुद्धि और सदुद्योग के अधीन है।

—संपा०।

सभा की प्रगति

(वैशाख-आषाढ़ सं० २००६)

रविवार २७ चैत्र, २००५ वि० (१० अप्रैल, १९४९) को हुए सभा के छप्पनवें वार्षिक अधिवेशन में संवत् २००७ के लिये सभा के निम्नलिखित पदाधिकारी तथा प्रबंध-समिति के सदस्य चुने गए—

पदाधिकारी

सभापति—श्री राय कृष्णदास। उपसभापति (१)—श्री सहदेव सिंह। उपसभापति (२)—श्री बलदेव उपाध्याय। प्रधान मंत्री—श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़। साहित्य-मंत्री—श्री डा० राजेंद्रनारायण शर्मा। अर्थ-मंत्री—श्री मुरारीलाल केडिया। प्रकाशन-मंत्री—श्री काशीनाथ उपाध्याय। प्रचार-मंत्री—श्री देवीनारायण ऐडवोकेट। संपत्ति-निरीक्षक—श्री मथुरादास। पुस्तकालय-निरीक्षक—श्री परमेश्वरीलाल गुप्त। आय-व्यय-निरीक्षक—श्री हरनारायण टंडन।

प्रबंध-समिति के सदस्य

सं० २००६ से २००८ तक के लिये—श्री करुणापति त्रिपाठी, काशी। श्री बच्चनसिंह, काशी। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी। श्री कृष्णानंद, काशी। श्री भगवतीशरण सिंह, काशी। श्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, बंगाल। श्री गोविंदचंद्र मिश्र, उत्कल। श्री अशोक जी, संयुक्तप्रांत। श्री जगन्नाथ पुच्छरत, पंजाब। श्री गोपालचंद्र सिंह, सं० प्रांत। श्री विद्याधर शास्त्री, बीकानेर। श्री शिवपूजन सहाय, बिहार। श्री डा० ओमप्रकाश, ब्रह्मदेश।

संवत् २००६ से २००७ तक के लिये—श्री रामऋषि शुक्ल, काशी। श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल, काशी। श्री ठाकुरदास ऐडवोकेट, काशी। श्री केशवप्रसाद मिश्र, काशी। श्री जीवनदास, काशी। श्री घनश्यामदास पोद्दार, बंबई। श्री नंददुलारे वाजपेयी, मध्य प्रांत। श्री माधवराव विनायकराव किवे, राज्य। श्री डा० धीरेंद्र वर्मा, सं० प्रांत। श्री विश्वेश्वरनाथ वाग्रे, राज्य। श्री शांतिप्रिय आत्माराम, राज्य। श्री ना० नागप्पा, सिंहल। श्री हनुमत् शास्त्री, मद्रास।

संवत् २००६ के लिये—श्री दिलीपनारायण सिंह, काशी। श्री रत्नशंकर

प्रसाद, काशी। श्री श्रीनिवास, काशी। श्री शिवकुमार सिंह, काशी। श्री ज्ञानवती त्रिवेदी, काशी। श्री मैथिलीशरण गुप्त, सं० प्रांत। श्री डा० बाबूराम सक्सेना, सं०प्रांत। श्री झाबरमल्ल शर्मा, राज्य। श्री मोतीलाल मेनारिया, राज्य। (रिक्त), सिंध। श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, दिल्ली। महामहिम श्री श्रीप्रकाश, असम। श्री जी० सच्चिदानंद, मैसूर। श्री ए० बारान्निकोव, रूस। श्री जगदीशचंद्र, अमेरिका।

प्रबंध-समिति के शनिवार २४ वैशाख, २००६ (७ मई, १९४९) के अधिवेशन में विभागाध्यक्षों का चुनाव इस प्रकार हुआ—

(क) खोज-विभाग के निरीक्षक—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

(ख) नागरीप्रचारिणी पत्रिका के संपादक—श्री कृष्णानंद।

(ग) अनुशीलन-विभाग के अध्यक्ष—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

(घ) 'प्रसाद'-व्याख्यानमाला के संयोजक—श्री गिरिजाशंकर गौड़।

(ङ) संकेतलिपि विद्यालय के अध्यक्ष—श्री निष्कामेश्वर मिश्र।

(च) पुस्तकालय-उपसमिति के संयोजक—श्री बच्चनसिंह।

आरंभ से ही प्रबंध-समिति इस वर्ष मुख्यतः दो बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान दे रही है। एक तो उत्तमोत्तम ग्रंथों का प्रणयन और प्रकाशन, दूसरे सभा की आय के विभिन्न स्रोतों को पुष्ट और प्रशस्त रखते हुए व्यय में यथा-संभव कमी। आधारिक-कोश के लेखन का कार्य श्री करुणापति त्रिपाठी को सौंपा गया है। संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर की छपाई आरंभ हो गई है। इसके अंत में देने के लिये नवीन शब्दों और अर्थों का एक परिशिष्ट भी तैयार हो रहा है जिससे आशा है यह कोश अपनी पारंपरीण सर्वश्रेष्ठता स्थिर रख सकेगा। इस त्रिमास में निम्नलिखित नवीन पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

१—हिंदी कारकों का विकास, ले० श्री शिवनाथ।

२—गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय-साधना, ले० श्री व्योहार राजेंद्रसिंह।

३—सूरसागर, प्रथम भाग।

४—रामचरितमानस, सं० स्व० श्री शंभुनारायण चौबे।

५—जीवों की कहानी, ले० कुँवर सुरेशसिंह।

६—मुगल दरबार भाग ३, अनु० श्री ब्रजरत्नदास।

प्रकाशन-भंडार की जाँच और विक्रय की नवीन व्यवस्था भी की गई है एवं भंडार के लिये लगभग ४५००) व्यय करके नवीन भवन बनवाया गया है।

इस वर्ष से प्रांतीय सरकार ने नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला के प्रकाशन के लिये २०००) की वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया है।

इस वर्ष सभा की ओर से माननीय श्री संपूर्णानंद जी को जो अभिनंदन ग्रंथ अर्पित किया जानेवाला है उसके लिये तैयारी हो रही है। प्रमुख विद्वानों के लेख आदि प्राप्त हो चुके हैं और छपाई आरंभ हो गई है।

आर्यभाषा पुस्तकालय

इस त्रिमास में पुस्तकालय ७७ दिन तथा उससे संबद्ध वाचनालय ९१ दिन खुला रहा। पाठकों की औसत उपस्थिति २०० थी। २०२ ग्रंथ विभिन्न दाताओं से भेंट में मिले तथा ४७५।।) की पुस्तकें क्रय की गईं। पुस्तकालय की सूची का जो अंश अप्रकाशित है उसको टंकित (टाइप) करा लेने की व्यवस्था की गई है।

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

खोज का कार्य इस अवधि में रायबरेली और प्रतापगढ़ जिलों में क्रमानुसार श्री दौलतराम जुयाल और श्री कृष्णकुमार वाजपेयी द्वारा होता रहा। रायबरेली जिले में कुल ५७ ग्रंथों के तथा प्रतापगढ़ में ३१ ग्रंथों के विवरण लिए गए। प्रमुख ग्रंथों के संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं—

क्रमांक	ग्रंथ	रचयिता	रचनाकाल	लिपिकाल	विषय
१.	साबर तंत्र	×	×	१७६३ वि०	तंत्र मंत्र (गद्य में)
२.	भ्रमर गीत	प्रागनि	×	×	गोपी-उद्धव-संवाद
३.	सनहेसागर	हंसराज बख्शी	×	×	कृष्णलीला
४.	व्यंग्यार्थ कौमुदी	प्रताप कवि	१८८१	१६०७	रीति
५.	अलंकार-मंजरी	ऋषिनाथ	१८३०	१८६०	अलंकार
६.	विष्णुपुराण	भिखारीदास	×	×	
७.	बैताल पचीसी	सूरत कवि	×	×	(गद्य में)
८.	काव्य-कल्पद्रुम	विश्वनाथ सिंह	१६४३	×	
९.	विक्रम नाटक	रणविजय बहादुरसिंह	×	×	
१०.	ज्ञान कवित्त और पद	शिवदीनदास	×	१८६१	

—सहायक मंत्री।

रामचरितमानस

(संपादक-मानसमराल स्वर्गीय श्री शंभुनारायण चौबे)

गोस्वामी तुलसीदास जी के "मानस" के अब तक शताधिक विभिन्न संस्करण निकल चुके हैं, किंतु विद्वन्मंडली और भक्त-संप्रदाय की मानस के शुद्धतम पाठ की आकांक्षा-पूर्ति उनमें से किसी से भी पूर्ण रूप से अब तक नहीं हो पाई है। इसी कमी

को पू ... मानस के ही निमित्त
अपन ... हुए प्रस्तुत कराया है।
चौबे ... वि० सं० १७२१,
सं० १ ... दोराम, भावपकुंज,
राजापु ... साधकों से सहायता
लेकर ... है। मानस का
यह संस ... ह है, इसमें
लेशमात्र ... लों के लिये
यह ग्रं ...

... ता नहीं।
अपनी ... कर अपनी
जिस ... दि से अंत
तक ... गोसाईं जी
के विचार ... र मध्ययुग
तक भारत ... ने अंकित
कर दी है ... यह पुस्तक
विशेष उप ...